सेय्यो अयोगुलो भुत्तो तत्तो अग्गिसिखूपमो।
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो रट्ठपिण्डं असञ्ञतो॥

—धम्मपद

अर्थात असंयमी दुराचारी हो राष्ट्र का पिंड (देश का अन्न) खाने से अग्नि-शिखा के समान तप्त लोहे का गोला खाना उत्तम है।

—जगपति चतुर्वेदी, हिन्दी-भूषण, विशारद

सेय्यो अयोगुलो भुत्तो तत्तो अग्गिसिखूपमो ।
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो रट्ठपिण्डं असञ्ञतो ॥

—धम्मपद

अर्थात असंयमी दुराचारी हो राष्ट्र का पिंड (देश का अन्न) खाने से अग्नि-शिखा के समान तप्त लोहे का गोला खाना उत्तम है।

—जगपति चतुर्वेदी, हिन्दी-भूषण, विशारद

छात्रहितकारी पुस्तकमाला सं०—३६

Atma Samyam.

आत्म-संयम : Self control.

लेखक

जगपति चतुर्वेदी, हिन्दीभूषण, विशारद

Chaturvedi Jagapati

प्रस्तावना-लेखक

श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०

[मंगलाप्रसाद पुरस्कार-विजेता, रचयिता 'आस्तिकवाद', 'अद्वैतवाद', 'जीवात्मा' आदि]

प्रकाशक

छात्रहितकारी पुस्तकमाला

दारागंज, प्रयाग

प्रथम संस्करण ११००] अक्तूबर १९४० [मू० १)

प्रकाशक

श्री केदारनाथ गुप्त, एम० ए०

प्रोप्राइटरः—छात्रहितकारी पुस्तकमाला,

दारागंज, प्रयाग।

मुद्रक

श्री रघुनाथप्रसाद वर्मा

नागरी प्रेस, दारागंज

प्रयाग

प्रस्तावना

दूसरों को दमन करने की इच्छा मनुष्य में स्वाभाविक है। बच्चे आरम्भ से ही यह चाहने लगते हैं कि उनके माता-पिता उनकी इच्छाओं की पूर्ति करते रहें। गृहस्थाश्रम में पति चाहता है कि पत्नी सर्वथा उसके अनुकूल चले और पत्नी की इच्छायें पति पर स्वत्व प्राप्त करने की रहती हैं। सार्वजनिक जीवन में नेता जनता को अपने वश में रखना चाहता है और जनता नेता को अपने वश में, परन्तु जहां प्रत्येक व्यक्ति अन्य समस्त प्राणियों पर आधिपत्य प्राप्त करने की इच्छा करे वहां सफलता हो ही नहीं सकती। द्वन्द्व, प्रतिक्रिया, कलह और अन्त में निराशा, यही तो होता है। जो बच्चा पहले आग्रह करता है, कुछ दिनों में दुराग्रही हो जायगा। और दुराग्रह के फल-स्वरूप माता-पिता या अन्य लोगों द्वारा दण्डित भी होगा ही। जीवन के अन्य विभागों का भी वही हाल है। इसलिये यदि किसी काम में सफल होना चाहते हो तो उचित सीमा की खोज करनी होगी और यत्न करना होगा कि उस सीमा का उल्लंघन न किया जाय। इसी का नाम है आत्म-संयम। अर्थात् अपने को नियम में रखना।

संस्कृत का शब्द 'अत्याचार', इस विषय पर अच्छा प्रकाश डालता है। 'अति सर्वत्र वर्जयेत' 'अति कभी न करे' क्योंकि 'अति' करना सीमा को लांघना है। 'अति' ही पाप है। अति न करने की शक्ति आत्म-संयम से ही प्राप्त होती है। इसके लिये बड़ा यत्न करन

पड़ता है। पतंजलि कहते हैं "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" अर्थात् चित्त की वृत्तियों को सीमा के भीतर रखना ही योग है।

स्कूल में लड़के क्रिकिट या फुटबाल खेलते हैं। एक कल्पित लकीर को लांघने से ही 'औट' हो जाते हैं। इसमें एक बड़ी शिक्षा है। सीमा के भीतर रहो। उसको लांघते ही पराजित हो जाओगे।

आत्म-संयम एक छोटा सा शब्द है परन्तु है बड़ा कठिन। राजा राज्य का पालन करता है। परन्तु 'राज्य' कितनी विशाल चीज़ है। सोचो तो सही! राज्य के कितने अंग हैं! और उसमें से प्रत्येक ही अपनी महत्ता रखता है, सेना है, शासन है, न्यायसभा है, व्यापार है, कला-कौशल है, शिक्षा है, डाकतार, सड़कें। इनमें से एक में भी त्रुटि हो तो समस्त राज्य-पालन में विफलता हो जाती है। इसी प्रकार आत्म-संयम का क्षेत्र भी विस्तृत है। 'आत्मा' कहने को तो एक चीज़ है, परन्तु मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूपी अन्तः करण और आंख, कान, हाथ, पैर आदि दस वाह्य करण, फिर इनके अवान्तर भेद! कितनी चीजें हो गईं। इन्हीं सब को तो नियम में रखना है। एक इन्द्रिय भी सीमा से बाहर हुई और समस्त जीवन प्रनष्ट हो सकता है। कभी-कभी एक छोटा सा विचार या एक छोटा सा असावधानी में कहा हुआ शब्द बड़े बड़े साम्राज्यों को नष्ट-भ्रष्ट कर सकता है। इसलिये आवश्यक है कि आत्मा के सभी विभागों को संयमित तथा नियमित किया जाय।

श्री जगपति चतुर्वेदी लिखित 'आत्म-संयम' नामक पुस्तक इसी आवश्यकता को दर्शाने के लिये लिखी गई है। हिन्दी भाषा में ऐसी

पुस्तकें कम हैं। हर्ष है कि श्री चतुर्वेदी जी ने इस कमी को पूरा किया है। पुस्तक का आधार तो है रेवरेंण्ड ए० टी० पियर्सन लिखित अंगरेजी पुस्तक "Godly self-control" परन्तु अंगरेजी-पुस्तक ईसाई-जगत के लिये लिखी गई है और बाइबिल के ही उद्धरणों का आधिक्य है। श्री चतुर्वेदी जी ने बड़े चातुर्य से अंगरेजी ढांचे में भारतीय रंग भर दिये हैं। यह काम बड़ी कठिनता का था, अत्यन्त कठिन था। मुझे तो जान पड़ता है कि चतुर्वेदी जी को इसके लिये बड़ा परिश्रम करना पड़ा होगा। परन्तु पुस्तक के आद्योपान्त अध्ययन से पता चलता है कि चतुर्वेदी जी इस कार्य में बड़ी उत्तमता से उत्तीर्ण हुये हैं। पुस्तक पढ़ने से यह नहीं जान पड़ता कि इसका मूलाधार कोई अन्य पुस्तक है।

जो लोग अपने जीवन को सफल बनाना चाहते हैं उनको इस पुस्तक की छोटी छोटी बातों पर भी ध्यान देना चहिये। जीवन-निर्माण के बड़े बड़े नियम तो शास्त्रों तथा स्मृतियों में मिलते ही हैं। परन्तु उनके पालन में मनुष्य को प्रतिदिन क्या कठिनाइयां पड़ती हैं उन्हीं को तो सावधानी से विचारना है।

हिन्दी-साहित्य के इस समयोचित संवर्धन पर चतुर्वेदी जी को बधाई है।

—गंगाप्रसाद उपाध्याय

नाविरतो दुश्चरितान्नाशांतो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ।।

—कठोपनिषद्

अर्थात् जिसका दुराचार बन्द नहीं होता, जो शान्त नहीं है, जिसका मन वश में नहीं है, जिसके मन को धैर्य नहीं है, वह ज्ञान से भी भगवान को नहीं पाता ।

अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया ।
अत्तना'व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं ।।

—धम्मपद

अर्थात् पुरुष अपने ही अपना मालिक है, दूसरा कौन मालिक हो सकता है; अपने को भली प्रकार दमन कर लेने पर (वह एक) दुर्लभ मालिक को पाता है ।

विषय सूची

पृष्ठ

सेय्यो अयोगुलो भुत्तो तत्तो अग्गिसिखूपमो ।
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो रट्ठपिण्डं असञ्ञतो ॥

—धम्मपद

अर्थात् असंयमी दुराचारी हो राष्ट्र का पिंड (देश का अन्न) खाने से अग्नि-शिखा के समान तप्त लोहे का गोला खाना उत्तम है ।

आत्म-संयम

विचारों का नियमन

विचार द्वारा ही चरित्र और आचार का निर्माण होता है। जहाँ पर विचार निवास करते हैं वे रहस्यमय स्थान एक अदृश्य शिल्पकार की गुप्त शिल्पशाला हैं, जहाँ वह एक अक्षुण्ण भविष्य के लिए जीवित मूर्तियों का निर्माण किया करता है। व्यक्तित्व और प्रभाव की वहीं पर रचना होती है। इसीलिए धर्म-ग्रंथों में कहा गया है कि "अपने हृदय की पूर्ण परिश्रम पूर्वक रक्षा करो, क्योंकि जीवन के स्रोत वहीं से प्रस्फुटित होते हैं।"

अनेक दृष्टिकोणों से हम लोगों के विचार संयमित रखने की महत्ता प्रकट होती है। उदाहरणार्थ किसी एक ही प्रकार के विषयों की ओर प्रेरित और अधिक समय तक लगाए विचार को ही ध्यान कहते हैं। अब इसमें यह बात बड़ा विशाल परिणाम उत्पन्न करने वाली है कि इस प्रकार का ध्यान पवित्र

सत्य, निर्दोष और उच्च वस्तुओं पर रक्खा गया है वा कुत्सित, अपवित्र और अधम पदार्थों पर निर्दिष्ट है! यदि मनुष्य के अभ्यस्त रूप से किए जाने वाले ध्यानों का रूप मालूम हो सके तो उसके आभ्यंतरिक रूप का कितने निश्चय रूप से परिचय प्राप्त हो सकता है! क्योंकि "मनुष्य अपने हृदय में जैसा विचार किया करता है, वह वैसा ही होता है।"

हम लोगों के ध्यान से यह भी पता चलता है कि हम क्या बनते जा रहे हैं, क्या होते जा रहे हैं। विचार में ग्रहण-शक्ति भी होती है, इसके विषय और उद्देश्य, ज्ञात वा अज्ञात रूप में हमें प्रभावित करते हैं। पहले जो एक भाव होता है, वह मूर्ति रूप बन जाता है। फिर वह एक आदर्श बन जाता है। वा यदि वह उत्साह संचारित करने वा प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न करने में अधिक निकृष्ट और हलका होता है तो भी वह चाहे नैतिक और मानसिक दृष्टि के त्याज्य ही हो, फिर भी वह सूक्ष्म प्रभाव डालता है।

ध्यान का सहायक कल्पना शक्ति है। यह आत्मा का नेत्र है जो मानसिक दृष्टि-शक्ति है। चर्मचक्षु बंद हो सकते हैं वा अंधे हो सकते हैं किन्तु जो कुछ अवलोकन किया जा चुका रहता है उसका चित्र इच्छानुसार सामने खिंच आ सकता है, स्मरण शक्ति उसे स्मरण करने और सामने उपस्थित करने में सहायक होती है। अतएव मस्तिष्क के नेत्र के सन्मुख खिंचा हुआ प्रत्येक चित्र कल्पना-शक्ति की रचना होती है। इस प्रकार

कला के क्षेत्र में इसका विशद भड़कीला कार्य दिखाई पड़ता है, उसके बिना कला की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। कालिदास की महान उपमाएं, व्यास और बाल्मीकि के महाकाव्य, संसार के महान शिल्पकारों की भव्यकृतियाँ, विशाल प्रासाद तथा शिल्पविद्या के महान् कार्य इस सृजनात्मक शक्ति के बिना किस प्रकार उत्पन्न हुए होते ? प्रत्येक शिल्पविद्या और ललित कला के कार्यों का जन्म लेखनी वा औज़ार से प्रारम्भ होने के पहले मस्तिष्क में ही होता है।

पवित्र जीवन के लिए भी विचार, ध्यान, कल्पना-शक्ति कम आवश्यक नहीं हैं। उच्च वा नीच, महान वा अधम भाव और उनके चित्र विचार-शक्ति को घेरे रहते हैं और उच्च उद्देश्य वा अध्यवसाय वा नीच तथा संहारक उद्देश्यों और कार्यों के आधार वनते हैं। मनुष्य का विचार करने का स्वभाव ही मनुष्य का चरित्र निर्मित करता है और उसका पहले से ही आभास करा देता है। वह उसका सांचा है। यदि मनुष्य सत्ता और उच्च-पद की कल्पना किया करता है तो वह अधिकाधिक महत्वाकांक्षी और स्वार्थी वनेगा, यदि वह धन का विचार करता है तो मक्खीचूस और लोभी वनेगा, यदि भोग-बिलास का विचार किया करता है तो भोगी और विलासी वनेगा। उसकी कल्पना केवल स्वप्न मालूम पड़ सकती है जो कभी पूर्ण न हो सके, वह उसकी प्राप्ति वा सिद्धि में निराश और असफल हो सकता है, किन्तु वह जिस वात की आकांक्षा किया करता है, उसमें अस-

फल होने पर भी, उसकी उसके चरित्र पर अमिट छाप पड़ जाती है। जिन भावों और मूर्तियों पर उसकी मानसिक दृष्टि लगी रहती है, उनमें वह घुलमिल जाता है। वह चाहे कृपण वा दानी, पापात्मा वा धर्मात्मा, देवता अथवा दानव रूप की हों।

अतएव मनुष्य जिस सांचे में ढलता है उसके लिये हमें विचार के जीवन की ओर ही दृष्टि फेरनी चाहिए। मनुष्य के आचार की उत्पत्ति चरित्र से होती है और चरित्र की उत्पत्ति विचारों से होती है। मनुष्य का मुँह हृदय के भंडार से शब्द उच्चारित करता है अतएव बोली का जन्म इस गुप्त अन्तःकरण से होता है। अतएव मनुष्य के हृदय पर ही परमात्मा दृष्टि रखता है, मनुष्य का मूल्य आंकने के लिये वह उसके हृदय को तौलता है। मनुष्य उन्नति और पवित्रता की खोज करते समय इस गुप्त जगत को प्रायः भूल जाया करता है, वह सदाचार और शील की उन्नति करने में खुले दुराचार से वंचित रह कर संतुष्ट हो जाता है। किन्तु भगवान की दृष्टि में ऐसा कोई भी जीवन पवित्र नहीं है जहां विचार पाप से बिल्कुल रहित न हों। अनियंत्रित विचार किसी न किसी समय जीभ पर वा वाह्य जीवन में आ ही जाते हैं। इसीलिए महाभारत में कहा है:—

काम जानामि ते मूलं, संकल्पात्किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि, समूलो न भविष्यसि॥

"हे कामना, मैं जानता हूँ कि तेरी जड़ कहां है, तेरी उत्पत्ति संकल्प से है, मैं तेरा ध्यान ही न करूंगा; फिर तो तू जड़ समेत न रहेगी।"

किन्तु यदि आचार और विचार को पृथक भी किया जा सके तो क्या कुविचार स्वयं भी वैसे ही पापमय नहीं है जितने किसी भी दूसरे प्रकार के दुष्कर्म जो भगवान के पवित्र नियमों के विरुद्ध होते हैं? उनका हमारे सहजीवी व्यक्तियों पर उतना प्रभाव भले ही न हो जितना हमारी बातों और कामों का हो सकता है, किन्तु वे हमको और भगवान के साथ हमारे संबन्ध को अवश्य प्रभावित करते हैं। प्रत्येक कुकर्म का वांछित विचार वा उद्देश्य भगवान के मुंह पर की गई चोट है। विचार-जगत में पहले उद्देश्य वा चित्र खड़ा होता है और वहीं पर यह निश्चय होता है कि हम किसके अनुरक्त बनेंगे। यही वह गर्त्त है जिसे कोई पाट नहीं सकता, यही अगाध, दुर्गम गर्त्त है जिससे आत्माएँ पहचानी जाती और पृथक की जाती हैं। स्वार्थमय उद्देश्य प्रायः दुष्कर्मों का मार्ग बताते हैं किन्तु इस गुप्त-जगत में जहां मानवीय नियमों की कोई बाधा नहीं होती और न मनुष्य की दृष्टि ही पहुँच सकती है, हम यथार्थ मनुष्य को देख सकते हैं। हम विचार-जगत में मनुष्य के आत्म संयम के लिये कुछ नियमों की ओर संकेत करने का यहां प्रयत्न करते हैं।

पहली बात असंदिग्ध रूप से यह है कि जिन बातों का आधार अपवित्रता हो, उन सबका परिश्रम पूर्वक त्याग करना चाहिए।

भगवान को क्लेश पहुंचाने वाली और हमें पतन की ओर ले जाने वाली अधम कल्पना से बड़ी कोई वस्तु नहीं है। यदि हम भगवान का ध्यान करना चाहते हों तो इस प्रकार के चित्रों को सहन नहीं किया जा सकता, वे वांछनीय तो बिल्कुल ही नहीं हैं। पवित्र जीवन और पवित्र विचार का बहुत अधिक संबंध है।

इसी प्रकार हल्केपन से भी बचना चाहिए। यह पूछा जा सकता है कि जीवन के विविध रागात्मक संगीत में परिहास का भी कोई स्थान है वा नहीं, जो अपने राग वा सुर से जीवन संगीत की मृदुलता में योग दे सके। ऐसे समय आते हैं जब कठोर गंभीरता के बाद आमोद और हँसी की मुद्रा में मनोविनोद किया जा सके किन्तु हास्य में उन्मत्त हो जाने पर पवित्र सीमा का उल्लंघन हो जाता है और भगवान के प्रसाद का मर्दन हो जाता है। एक वाह्य आमोद में नियंत्रण रखना चाहिए, नहीं तो वह औचित्य की सीमा पार कर जायगा और नित्य की चंचलता के वह समीप पाप बसता है। उससे अत्यधिक गंभीरता और दृढ़ता भी क्षीण होने लगती है और अंत में नष्ट हो जाती है। अनुभव इस बात को बतलाता है कि जिस वार्तालाप का प्रारम्भ मुंह से "मूर्ख" शब्द निकालकर होता है उसका अंत बड़ी विकराल उन्मत्तता में होता है। जब हँसी की आदत पड़ जाती है तो उसमें अभद्रता और अश्रद्धा प्रायः घर कर जाती है।

किन्तु हमें चित्त को उच्च और पवित्र वस्तुओं में निश्चित रूप से संलग्न रखने की आवश्यकता है जो बुराइयों से दूर रखने

की एक नई और उच्चतर आसक्ति की शक्ति है। कोई भी व्यक्ति अधिक समय तक बुराइयों से दूर नहीं रह सकता जो सद्विचारों में लिप्त नहीं रहता, खाली हृदय शैतान का कारखाना है, किन्तु स्वर्गीय वस्तुओं में लिप्त रहने वाले मस्तिष्क में उसके लिए स्थान नहीं होता।

विचारों के संयम के लिए मनुष्य को भगवान ने बुद्धि का बल दिया है। इन्द्रियों के निरोध के लिए भी बुद्धि ही को शास्त्रकारों ने प्रबल अस्त्र वर्णित किया है। भगवान कृष्ण गीता में कहते हैं:—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥

"इन्द्रियां प्रबल कहलाती हैं, इन्द्रियों से प्रबल मन है, मन से प्रबल बुद्धि है। और बुद्धि से प्रबल वह (आत्मा) है। हे महाबाहु अर्जुन, इस प्रकार बुद्धि से प्रबल आत्मा को जानकर और आत्मा से अपने को वश में करके दुर्जय काम (कामना, विषय वासना) रूपी शत्रु को मार।"

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभय-क्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥

"इन्द्रिय, मन, बुद्धि को जीते हुए और काम क्रोध, भय को दूर किए हुए जो मोक्ष परायण मुनि हैं वह सदा मुक्त ही है।"

इंद्रिय रूपी घोड़ों के लिए बुद्धि को सारथी कहते हुए कठ उपनिषदों में लिखा है:—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेवच।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयं स्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

"आत्मा को रथ का मालिक जानो, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी और मन को लगाम। इन्द्रियों को घोड़े कहा है और विषय वासना उनमें सड़कें हैं। जब शरीर इन्द्रिय मन के साथ युक्त है तब विद्वान उसे भोक्ता कहते हैं।" जो चतुर सामर्थ्यवान सारथी है वह दृढ़ता से लगाम पकड़ कर इस शरीर रूपी रथ को निश्चित रूप से लक्ष्य स्थल पर पहुँचा सकता है। इन्द्रिय मन और बुद्धि तीनों पर विजय पाने वाले व्यक्ति को गीता में मोक्ष का अधिकारी माना गया है—यथा--

सारथी की योग्यता के लिए लिखा है कि--

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥

"परन्तु वह जो समत्व बुद्धि से ज्ञानवान है उसकी इन्द्रियां सारथी के श्रेष्ठ घोड़ों के समान वशीभूत होती हैं।"

श्रेष्ठ बुद्धि का लक्षण गीता में लिखा है:--

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बंधं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी ॥

"हे अर्जुन, प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग तथा कर्त्तव्य और अकर्तव्य को और भय एवं अभय को तथा बन्धन और मोक्ष को जो बुद्धि तत्त्व से जानती है वह बुद्धि सात्विकी है।" स्थिर-बुद्धि व्यक्ति मोक्ष को का अधिकारी माना गया है। गीता में उसका लक्षण इस प्रकार दिया है:--

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।

"दुख में उद्विग्नता रहित मन वाला, सुख में निस्पृह वृत्ति वाला तथा कामना, भय और क्रोध से रहित मुनि स्थिर बुद्धि कहलाता है।" अपना कल्याण करने के लिए मनुष्य को बुद्धि की शरण में जाने के लिए महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में उपदेश किया है:—

तत्वतो हि नरश्रेष्ठ बुद्ध्या समनुचिंतय ।
बुद्ध्या युक्ता महाप्राज्ञा विजानन्ति शुभाशुभे ॥

"हे नर श्रेष्ठ, तू बुद्धि ही के द्वारा उसका यथार्थ विचार कर क्योंकि बुद्धि ही के द्वारा ज्ञानवान भलाई बुराई की पहचान करते हैं।"

योग वाशिष्ठ में भी लिखा है:--

न विचारं विना कश्चिदुपायोस्ति विपश्चिताम् ।
विचारादशुभं त्यक्त्वा शुभमायाति धीः सताम् ॥

"बुद्धिमान को विचार छोड़ कर दूसरा कोई उपाय नहीं, विचार से बुद्धि अशुभ को छोड़ कर शुभ को ग्रहण करती है।" अतएव महाभारत का यह कथन ठीक है कि:—

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति, पुरुषाय पराभवम्।
बुद्धिं तस्यापकर्षंति सोऽवाचीनानि पश्यति॥

"देवता जिसको दुख देना चाहते हैं पहले उसकी बुद्धि हर लेते हैं, बुद्धि नाश से वह नीच कर्म करने लगता है।"

२—अनुराग का नियमन

विचार करने और अनुभव करने की शक्तियों में भेद होता है। हम विचार का संबन्ध मस्तिष्क से और अनुभव करने का हृदय से समझते हैं। यह सच है कि मस्तिष्क की क्रियाएं रक्त-वाहक केन्द्रों को बहुत अधिक प्रभावित करती हैं और नाड़ी की गति मानसिक गति के अनुकूल परिवर्तित होती है, किन्तु यह जाना गया है कि उदर में भी एक क्षुद्र मस्तिष्क होता है, जिसका अधिक सम्बन्ध मनोवेग—क्रियाशील उत्तेजना से होता है। संक्षेपतया हृदय उष्ण रक्तप्रवाह के साथ मनोभाव की उग्रता और तीक्ष्णता का बहुत अच्छा अनुमान कराता है।

सोचना मस्तिष्क की क्रिया है जो भावों और घटनाओं के संबन्ध की होती है, और आकर्षण वा विकर्षण की क्रिया आवश्यक रूप से उसमें नहीं होती। किन्तु मनोभाव, भावुकता वा अनुराग ये सभी इस प्रकार की क्रिया तृप्ति वा अतृप्ति, संतोष वा घृणा के रूप में प्रकट करते हैं। उदाहरणार्थ, दो व्यक्तियों को देखा जाता है जो भिन्न भिन्न संसर्ग की बातें मन में जगाते हैं, एक का सम्बन्ध असत्यता, विश्वासघात और क्रूरता से होता है और दूसरे का दयालुता, उदारता और सहृदयता से होता है। जब पहचान लेने और स्मरण कर लेने का कार्य मस्तिष्क कर

चुकता है तो मनोभाव और भावुकता जाग्रत होते हैं और उस दृश्य पदार्थ से आकृष्ट वा दूर होने की प्रवृत्ति होती है।

कुछ अनुभव विचार और मनोभाव की सीमा पर होते हैं, उन्हें 'बौद्धिक मनोवेग' कहा जा सकता है, जैसा कि केवल कला वा प्रतिभा कार्य होने के नाते किसी चित्र वा मूर्ति में रुचि होने पर मस्तिष्क उस पर आनन्द से विभोर हो उठता है। यहां अनुराग के तौर की ही कुछ बात होती है, किन्तु यह अनुराग-क्षेत्र की बात कदापि नहीं होती। हम जब एक संगमरमर की प्रतिमा और माता के मुख देखने में अपने ऊपर पड़े प्रभाव में तुलना करें तो यह बात ज्ञात हो सकती है।

अब हमें संक्षेप में अनुराग के संयम पर विचार करना है जिसमें मनोभाव और मनोवेग भी लिए जा सकते हैं किन्तु वे अधिक गंभीर और स्थायी हों। मनोवेग अपने उत्तेजक उपादान के साथ ही उत्पन्न और विलीन होता है जैसा कि वेदना सहानुभूति और दया का मनोवेग उत्पन्न करती है। राग, अनुराग या आसक्ति किसी वस्तु के प्रति अभ्यास पड़ा हुआ आकर्षण है, यह स्थायी प्रवृत्ति और स्वभाव होता है, वह अपने अस्तित्व वा स्थिरता के लिए उस वस्तु की विद्यमानता पर निर्भर नहीं करता। इस कारण मनोभाव और मनोवेग का संयम चाहे जितना आवश्यक हो, हृदय-जीवन की इन अधिक गंभीर स्थितियों का संयम करना बहुत ही गंभीर परिणाम उत्पन्न करने वाला है। ये ही मनुष्य के चरित्र की कुञ्जी और भाग्य की भविष्य वाणी होती हैं।

इसी कारण संतों ने लिखा है कि 'स्वर्गीय विषयों का विचार ही न कर बल्कि अपनी अनुराग वृत्ति को उन्हीं में लगा, उन्हीं में नियोजित कर'। हमें इन स्वर्गीय विषयों की ओर ही स्थायी रूप से आकृष्ट, प्रवृत्त होना चाहिए, अपने अनुराग को लिपटने वाली लता की भाँति प्रभु में आवेष्टित करना चाहिए। उन्हीं में तुष्टि और आश्रय पाना चाहिए। इन स्वर्गिक पदार्थों की खोज का अर्थ पार्थिव पदार्थों से अपना अनुराग वलपूर्वक खींच लेना है। तथा स्वर्गिक पदार्थों को ही ग्रहण करना अपना उद्देश्य समझना तथा उन्हीं की आकांक्षा करना और उन्हीं में आनन्द का अनुभव करना है। प्रभु और स्वर्ग से निम्न पदार्थ उसके ध्यान के केन्द्र और संचालक नहीं होने योग्य हैं।

इसका महत्व समझ सकने के लिए हमें अनुराग की शक्ति और मर्यादा का अवश्य अनुभव करना चाहिए। प्रभु की उच्चतम उपाधि यह है कि "प्रभु ही प्रेम है" शक्ति असीम होने पर भी केवल धाक उत्पन्न करती है। किन्तु असीम प्रेम वशीभूत कर लेता है, पिघला देता है और विजय पा जाता है। प्रभु का प्रसाद समस्त प्राणियों को कृतज्ञता की भावना से उद्वेलित कर देता है और कोमलता से उसे परिस्रावित कर देता है। तथा इसी प्रकार जब प्रभु हमें बहुत अधिक द्रवीभूत करना चाहते हैं तो वे हमें ऐसे प्रेम की झाँकी से द्रवीभूत कर देते हैं कि वह प्रभु का गुण नहीं रह जाता, बल्कि प्रभु का प्रतिरूप ही हो

जाता है। वे केवल प्रेमी और प्रेम के आधार ही नहीं रह जाते बल्कि स्वयं प्रेम बन जाते हैं।

हमारा अनुराग यह प्रकट करता है कि हमारा चरित्र वास्तविक रूप में क्या है और विचारों की अपेक्षा इस बात का पूर्वाभास अधिक देता है कि 'चरित्र कैसा बनेगा' क्योंकि अनुराग ही हमारे विचारों के स्वभाव को अधिक मात्रा में प्रभावित करते हैं, वे निश्चय करते हैं कि किन मूर्तियों का ध्यान करना हमें प्रिय है। पाप और पुण्य दोनों का निचोड़ अधिकतर इसी में होता है। क्योंकि पाप और पुण्य दोनों के कार्यों में तनिक भी नैतिक विशेषता नहीं हो सकती, यदि उनके पीछे नैतिक रूप से अधिक पसंद करने की भावना न होती। पाप के प्रेम से पाप इतना घृणित बनता है और पुण्य का प्रेम धार्मिकता का मूल है। किन्तु पाप के प्रति हृदय की इस आसक्ति के बिना कल्पना को पाप के चित्रकार की भाँति, स्मरण-शक्ति को उससे कोष-संग्रहकर्त्ता की भाँति तथा इच्छा-शक्ति को इसके सेनानायक की भाँति किस प्रकार उपयोग किया जा सकता है? इसके बिना तो शैतान का पंजा भी निरर्थक हो जायगा और उसके छल का हम लोगों पर कुछ प्रभाव न हो सकेगा जिस प्रकार कि भगवान शिव पर उसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ सका।

इहलौकिक बुद्धि, अर्थात पार्थिव पदार्थों की चिन्ता जो भगवान के प्रति द्रोह है तथा पारलौकिक बुद्धि जो जीवन और शान्ति है, ये क्या हैं, केवल अनुराग के एक दिशा वा दूसरी

दिशा में स्वाभाविक झुकाव है। जो व्यक्ति भगवान के प्रेम के आधीन नहीं हो जाता वह भगवान के नियमों का अनुगामी किस प्रकार हो सकता है। भगवान का प्रसाद भगवद्प्रेम को अंकुरित और फिर उसे पल्लवित करने का लक्ष्य रखता है और जो भगवान के दास हैं उन्होंने इहलौकिक अनुराग और कामना का विध्वंस कर उन्हें भगवान के चरणों के नीचे समाधिस्थ कर दिया है जिससे आवागमन से वे मुक्त हो सकें।

भौतिक सुख और भोग की इच्छा को कामना कहा जाता है। मनुष्य की इन्द्रियाँ इन विषय-भोगों में लिप्त होकर मन को कलुषित कर देती हैं, और मन के इन्द्रियों का दास बने रहने से आत्मासंसार-बंधन में फँसी रहती है। इस कारण मोक्ष-प्राप्ति के लिए मन को वश में कर इन्द्रियों के संयम का आदेश धर्म ग्रन्थों में दिया गया है।

विष्णु पुराण में लिखा है :—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धस्य विषयासंगि मुक्तेर्निर्विषयं तथा॥

"मनुष्य का मन ही उसके मोक्ष और बंधन दोनों का कारण है। उसके इन्द्रिय-विषयों में लगने से बंधन होता है और इन्द्रिय विषयों से छूटना ही मोक्ष है।"

महाभारत में भी लिखा है :—

प्रेत्य चात्र मनुष्येन्द्र परमं विन्दते सुखम्।
दमेन हि समायुक्तो महान्तं धर्ममश्नुते॥

सुखं दान्तः प्रस्वपिति सुखं च प्रतिबुद्ध्यते।
सुखं पर्येति लोकांश्च, मनश्चास्य प्रसीदति॥

"मनवश करने से मनुष्य इस लोक और परलोक में परम सुख पाता है और मन को वश में होने से मनुष्य बड़े धर्म को प्राप्त होता है। मन वश करने वाला पुरुष आनन्द से सोता है, आनन्द से जगता है, और उसका चित्त सदा प्रसन्न रहता है और वह संसार में सुख से चलता।

इस कारण गीता का यह उपदेश कितना सुन्दर है कि—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥
बन्धुरात्माऽत्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

"मन से अपना उद्धार करे और आपको न गिरावे, क्योंकि मन ही अपना मित्र और मन ही अपना शत्रु है। उसका मन अपना मित्र है जिसका मन आप से जीता हुआ है परन्तु जिसका मन जीता हुआ नहीं है उसका मन तो शत्रु के समान वर्तता है।"

मन को वश में करना सुगम कार्य नहीं है। श्रीमद्भागवत में ठीक ही लिखा है किः—

मनो वशेऽन्ये ह्यभवं स्म देवा मनश्चनान्यस्य वशं समेति।
भीष्मो हि देव सहसः सहीयान् युञ्ज्याद्वशे तं सहि देवदेवः॥

"दूसरे इन्द्रिय देवता मन के वश में हैं, परन्तु मन किसी दूसरे के वश में नहीं रहता। मन बड़ा बलवान और भयंकर है। जो मन को अपने वश में करता है वह देवताओं का भी देवता है।"

मन को वश में करना कितना कठिन है। इसे अर्जुन ने गीता में कहा है:—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

"हे कृष्ण, मन चंचल, मथने वाला, बलवान और हठी है इसलिए मैं उसका रोकना वायु के समान कठिन समझता हूँ।"

जो मन इतना दुर्दमनीय है। उसके निग्रह की नितान्त आवश्यकता क्यों हैं, इसे शास्त्रकारों ने भली भाँति समझा है, इसी कारण इसके वशीभूत करने की बराबर शिक्षा दी है।

श्री वेदव्यास ने इन्द्रियों और मन की रथ के घोड़े और सारथी से बहुत सुन्दर उपमा देकर महाभारत में लिखा है:—

रथं शरीरं पुरुषस्य राजन्नात्मा नियंतेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वैर्दांतैः सुखं याति रथीव धीरः॥

"हे राजन, पुरुष का शरीर रथ है, मन सारथी और इन्द्रियाँ घोड़े हैं, सावधान पुरुष इन इन्द्रियों को वश करके सुखपूर्वक धीर रथी के समान चलता है।"

इन्द्रियाँ बड़ी प्रबल और मन को चलायमान करने वाली होती हैं। इन्द्रिय दमन की साधना करने वाले बुद्धिमान लोगों

का भी मन इन्द्रियों के द्वारा चलायमान होकर विषय भोगों में फँस जाता है। इस विषय में गीता में कहा है :—

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥

"हे कुन्ति पुत्र अर्जुन, यत्न करते हुए बुद्धिमान पुरुष के मन को भी ये मथनेवाली इन्द्रियाँ निस्सन्देह बलपूर्वक हर लेती हैं।"

जो पुरुष अपने मन के द्वारा इन्द्रियों को अपने वश में नहीं करता, प्रत्युत स्वयं इन्द्रियों के आधीन होता है, इन्द्रियाँ उसका नाश किए बिना नहीं रहतीं। महाभारत में कहा है :—

एतान्यनिगृहीतानि व्यापादयितुमप्यलम्।
अविधेया इवादांता हयाः पथि कुसारथिम्॥

"जैसे बेवश घोड़े मार्ग में सारथी को मार डालते हैं वैसे ही बवश हुई इन्द्रियाँ मन रूपी सारथी का नाश करती हैं।"

गीता में भी कहा है:—

इन्द्रियाणां हि चरितां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि॥

"जिसका मन विषयों में विचरने वाली इन्द्रियों के आधीन होता है वह उसकी बुद्धि को ऐसे हर लेता है जैसे पवन जल में नाव को।"

इसीलिए शास्त्रकारों ने इन्द्रिय-संयम का महत्व बहुत अधिक बतलाया है। महाभारत में लिखा है कि:—

इन्द्रियाणि महत्प्रेप्सुर्नियच्छेदर्थ धर्मयोः ।
इन्द्रियैर्नियतैर्बुद्धिर्वर्धतेऽग्निरिवेन्धनैः ॥

"जो अर्थ धर्म पाने की इच्छा रखता है उसे पहले सब इन्द्रियों को वश करना चाहिए क्योंकि इन्द्रिय-दमन होने से बुद्धि ऐसी बढ़ती है जैसे अग्नि काठ के बढ़ने से।"

गीता में बतलाया गया है कि:—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

"जब यह सब ओर से इन्द्रियों को उनके विषयों से ऐसे खींच लेता है जैसे कछुआ अपने अंगों को, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है।"

कठ उपनिषद् में यह लिखा है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिश्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

"जब सब कामनाएँ जो इसके हृदय में बसी हैं, छूट जाती हैं, तब वह मृत्यु से अमृत हो जाता है और यहां ही ब्रह्म को भोगता है।"

धम्मपद में चित्त के संयम के लिए भगवान गौतम बुद्ध का वचन है कि:—

यथागारं दुच्छन्नं वुट्ठी समतिविज्झति ।
एवं अभावितं चित्तं रागो समतिविज्झति ॥

"जैसे ठीक से न छाए घर में वृष्टि घुस जाती है वैसे ही अभावित (न संयम किए) चित्त में राग घुस जाता है।"

इसलिए भगवान बुद्ध ने आदेश दिया है:—

दुन्निग्गहस्स लहुनो यत्थ कामनिपातिनो।
चित्तस्स दमथो साधु चित्तं दन्तं सुखावहं ॥

"जो, कठिनाई से निग्रह योग्य, शीघ्रगामी, जहां चाहता है, वहां चला जाने वाला है (ऐसे) चित्त का दमन करना उत्तम है, दमन किया चित्त सुखप्रद होता है।"

सुदुद्दसं सुनिपुणं यत्थ कामनिपातिनं।
चित्तं रक्खेय्य मेधावी चित्तं गुत्तं सुखावहं ॥

"कठिनाई से जानने योग्य, अत्यंत चालाक, जहां चाहे वहां ले जाने वाले चित्त की, बुद्धिमान रक्षा करे; सुरक्षित चित्त सुखप्रद होता है।"

हमारे अनुराग हमारे प्रभाव को भी निश्चित करते हैं। मनुष्य को अभिभूत कर देनेवाला मस्तिष्क उतना नहीं है जितना उसका हृदय है। संसार भर में सबसे प्रबल शक्ति मस्तिष्क नहीं है, बल्कि प्रेम है। दलीलों से प्रायः विश्वास जमता है किन्तु प्रेम तो विरुद्ध दिशा में बहा ले जाता है। स्कूल के सभी आकर्षणों के साथ अध्यापक की बुद्धिमत्ता माता के अनुरोध और आंसुओं की अपेक्षा कम प्रभाव डाल पाती है। जहाँ विशाल जन-समूह प्रभावोत्पादक भाषण से मुग्ध हो जाता है वहां भी वक्ता की सच्चाई और निश्छलता की शक्ति ही उन व्यक्तियों को भी

अनुगामी बना लेती है जो भिन्न मत रखते होते हैं। हम सब स्वम्भवतः अनुभव करते हैं कि वीरता का रहस्य उच्च अनुराग, निस्वार्थ प्रेम और त्याग है। एक प्रकार की न्याय-प्रियता से केवल शुष्क प्रशंसा के भाव जागरित होते हैं किन्तु सद्गुण जो न्याय-प्रियता ही है जिस में प्रेम का भी पुट होता है, सद्गुणी व्यक्ति के लिए लोगों को प्राण-विसर्जन करने के लिए प्रवृत्त करता है।

यह बात निर्विवाद है कि जो बात चरित्र-निर्माण करने और प्रभाव निरूपित करने में इतना अधिक भाग लेती है, वह निश्चय ही भाग्य का निर्णय करे। जब विश्वनियंता की न्याय-तुला अंत में लटके तो इसके अतिरिक्त दूसरी बात हो ही नहीं सकती कि केन्द्रीय अनुराग ही यह निश्चय करे कि तुलादंड को किस ओर बोझिल होना चाहिए। हमने जिसे अत्यधिक सच्चाई से प्रेम किया हो उसका अनन्त भविष्य से अवश्य ही मुख्य संबंध होना चाहिए, यह केवल स्वर्ग में प्रवेश पाने के संबंध में ही नहीं होना चाहिए बल्कि वहां के आनन्दोपभोग की मात्रा पर भी होना चाहिए।

जिस नियम से हमें स्वर्गीय पदार्थों से अनुराभ करने की आज्ञा मिलती है उसी से पार्थिक पदार्थों पर अनुराग रखने के निषेध की भी आज्ञा मिलती है। धर्म-ग्रन्थों में पार्थिव पदार्थों के दो भेद कहे गए हैं, एक तो वे जो स्वयं पापमय हैं और दूसरे वे जो आपेक्षिक रूपसे निरर्थक हैं। पहले प्रकार की

वस्तु सदा निषिद्ध है। दूसरे प्रकार की उस समय निषिद्ध है जब वह तल्लीन करदेने वाली और अंधविश्वास युक्त हो जाती है।

पाप-पूर्ण पदार्थों के लिये केवल एक मार्ग है, उनका तुरन्त और पूर्णतया परित्याग करना चाहिए। प्रभुविहीन स्नेह के दमन का सबसे निश्चिन्त मार्ग यह है कि पाप का सम्पर्क सर्वथा त्याज्य किया जाय, पार्थिव पदार्थ के लिए तनिक भी स्थान न रक्खा जाय, शत्रु के लिए कोई भी स्थान न छोड़ा जाय। यदि दुर्ग पर भगवान का अधिकार कराना है तो शत्रु को बिना शर्त्त आधीन हो जाना चाहिए, तुरन्त ही स्थान से भाग जाना चाहिए। जाने हुए पाप के लिए भगवान के पास क्षमा नहीं है। उसे तुरन्त और सदाके लिए त्याग करना चाहिए। अनजाने, अनपहचाने पाप की बहुत पर्याप्त मात्रा सदा ही छूटी रहेगी।

ओछापन भगवद् भक्त के लिए उचित नहीं। हमारा जीवन इतना अधिक गंभीर और सच्चा है कि उसे अज्ञानता, मूढ़ता, और दंभ में लीन नहीं रक्खा जा सकता। लकड़ी का घोड़ा दौड़ाने वा बुलबुल उड़ाने की अपेक्षा हम निश्चय ही अच्छे ढंग से समय बिता सकते हैं। इस संसार का ऐश्वर्य लुप्त हो जाता है। यह बात उस व्यक्ति के लिये जानना पर्याप्त है जो भगवान का आदेश मानता हुआ सदा उसी का अनुवर्ती बना रहता है। यह संदेह-शील व्यक्ति को

यह सोचते हुए देख कर हमें दुख होता है कि यह करें वा वह करें। दुविधा उत्पन्न होने से ही इसको समझ लेना चाहिए। जो बात विश्वास से नहीं की जाती वह पाप है क्योंकि जिस बात का स्पष्ट रूप से निषेध नहीं है वहां दुविधा उत्पन्न होने पर हमें उसे प्रश्रय देने का अर्थ यह है कि हम भगवान की पूर्ण भक्ति के ऊपर अपने झुकाव को तरजीह दें। भगवान हमारी परीक्षा लेने के लिए निषेध की आज्ञा से बाहर कुछ बातें यह देखने के लिए रख देते हैं कि हम संदेह के अवसर पर उनका पक्ष-ग्रहण करते हैं या दुविधा का लाभ उठा कर दूसरी ओर बहकते हैं। जब तक इस संसार के नश्वर भोग-विलास, सुख-सामग्री, इसकी मूढ़ताएँ और ओछेपन, इसकी रङ्गरलियाँ और तड़क-भड़क निश्चय रूप से हमें अभिभूत किए हुए हैं, हमारे अनुराग पार्थिव पदार्थों से पृथक नहीं हो सकते और वे भगवान में नहीं लग सकते। ऊँचे उठे हुए अनुराग के अनुभव से इन असारताओं से आत्मा को विराग उत्पन्न होता है, यही दिव्य जीवन और संसार की गोद से प्रभु के चरणों में भगवद्भक्त के पहुँच जाने का सब से निश्चित लक्षण है।

पुण्य का भी निम्न रूप ध्यान और स्नेह की न्यूनता के कारण जघन्य हो सकता है। लोभ, भूख और हौसला तीनों लालसाएँ घृणित वृत्तियाँ हैं। प्रारम्भ में वे उन्नति सुख और वृद्धि की सामर्थ्य थीं, किन्तु अति होने पर वे उलटे परिणाम का नमूना हैं: जो पहले साधन था, वही साध्य वस्तु हो गया। नौकर ही

स्वामी बन गया। धन को पहले लक्ष्मी रूप में दया और सेवा का अवतार देखा जाता है किन्तु उसी का दास बन जाने पर उसका रूप दैत्य का हो जाता है। आकांक्षा नीचे गिरने पर हौसला बन जाती है और तब मनुष्य दूसरों को कुचल कर भी अपना पग बढ़ाने के लिए विवश हो जाता है। यदि धन बढ़े, तो अपने हृदय को उसमें लिप्त न कर दो, यदि उसमें लोभ उत्पन्न हुआ तो लाभ के स्थान पर वह हानि हुई। भगवान के दास के लिए पार्थिव पदार्थ की चिन्ता भयानक है क्योंकि नश्वर और क्षण-भंगुर पदार्थ अनन्त लोक को अपना सच्चा निवास मानने वाले को न संतुष्ट कर सकते हैं और न करना चाहिए।

उन पदार्थों का विचार करो जिस पर मानव-प्रेम इतना शीघ्र नियोजित हो जाता है। क्या यह सम्भव हो सकता है कि मनुष्य कृपण भी हो और उसका हृदय कठोर, पत्थर, और उसी तरह का निर्जीव न बन जाय जैसा धातु का टुकड़ा होता है जिसे वह हाथ में लेता है? अथवा एक शक्ति के पद की प्राप्ति के लिए वह प्रतिष्ठा को धूल में मिला दे वा आनन्द-प्राप्ति के लिए प्रेम को लालसा में परिवर्तित कर दे और इस बात का अनुभव न करे कि वह मानवता की अप्रतिष्ठा कर रहा है? हम सब लोगों को ईमानदारी से यह बात देखनी चाहिए कि हमारे प्रेम पर वास्तव में किस वस्तु का अधिकार है; किसी वस्तु के चुन कर ग्रहण करने की कीली पर जा सूक्ष्म सुई आधारित है वह किस वस्तु से वास्तव में खिंचती है।

३—वृत्तियों का नियमन

मनुष्य के पूर्ण व्यक्तित्व के अवयवों में वृत्ति सब से अधिक दुर्दमनीय होती है और किसी भी भीषण परिवर्तन से बहुत ही देर में अभिभूत होने वाली होती है। वृत्ति का अर्थ चरित्र की विशेषता का है जो किसी विशेष दिशा में झुकता है, इसका अर्थ स्वाभाविक झुकाव, रुचि वा ग्रहणशीलता है।

वृत्ति भावुकता अनुरक्ति वा उद्वेग का पर्यायवाची शब्द नहीं है। अनुरक्ति उत्पन्न होने वा उद्वेग जागृत होने के पहले भी वृत्ति रहती है जो दोनों के उभाड़ने में प्रवृत्त होती है। इस प्रकार ईर्ष्या वा द्वेष वृत्ति प्रतिस्पर्द्धी के प्रति घृणा उत्पन्न करती है और प्रहार वा वध करने तक का प्रचण्ड उद्वेग उत्पन्न कर सकती है। मस्तिष्क परिश्रम वा आलस्य, उद्योगशीलता वा उद्योग-हीनता की ओर प्रवृत्त होता है और हृदय कोमलता वा कठोरता, आत्म-गौरव वा आत्म-लघुता की ओर।

महर्षि पातञ्जलि ने सभी चित्तवृत्तियों का निरोध ही मोक्ष का मार्ग बतलाया है। योग में लिखा है—योगश्चित्तवृत्ति-निरोधः-अर्थात् "चित्त-वृत्तियों का निरोध ही योग है।" और योग ही मोक्ष का साधन माना गया है।

बहुत सी बातें जो व्याख्या करने में सुगम नहीं होतीं, समझने में सुगम होती हैं और बहुत कम लोग ऐसे होंगे जो चित्त-वृत्ति की दृढ़ दुर्दमनीयता का कष्ट के साथ ज्ञान न रखते हों।

धर्म ग्रन्थों में कहा गया है कि "अपने मस्तिष्क की आत्मा को परिष्कृत कर रक्खो।" परिष्कार करने का अर्थ नया बनाना, बिल्कुल कायापलट कर देना है। मस्तिष्क की आत्मा कहने से यह प्रतीत होता है मानों मस्तिष्क में भी एक कोई दूसरा सूक्ष्म मस्तिष्क होता है। जिस प्रकार फूल केवल रूप और रंग से ही निर्मित नहीं होता बल्कि इन दोनों से ही अधिक सूक्ष्म और अ-वश्य वस्तु गंध से भी बनता है, उसी प्रकार गुप्त आत्मा भी जो इतनी सूक्ष्म और अ-वश्य होती है, अपना गंध रखती है, जो एक प्रकार की व्यापक स्वर-लहरी, आकर्षण और विकर्षण का एक गुण होती है जो वर्णनातीत किन्तु अनुभव-गम्य होती है और दूसरे किसी अन्य लक्षण की अपेक्षा अधिक व्यापक-रूप से प्रभावोत्पादक होती है।

प्रभु के प्रसाद के लिए एक अनुकूल क्षेत्र होता है और पूर्ण रूप से कायापलट तथा गंतव्य स्थल का साधारण तथा अंतिम रूप होता है। फिर भी चरित्रों की निम्नतम विकृतियां दुष्ट प्रकृति के कुप्रभाव के कारण ही उत्पन्न होती हैं।

वृति के परिष्कार की आवश्यकता सार्वभौमिक होती है। प्रत्येक स्वाभाविक वृत्ति कुछ अंश तक पाप की कुवृत्ति उत्पन्न करती है, इस कारण उस को प्रभुप्रसाद की ओर परिवर्तित होने

की आवश्यकता होती है। कुछ विकृति कम प्रत्यक्ष होती है किन्तु वह यथार्थ में कम नहीं होती जिस प्रकार शरीर की भीतरी बनावट में बेडौल रचना हो जो व्यक्ति के बाह्य रूप को विकृत न करे। किन्तु सूक्ष्म विश्लेषण से ज्ञात हो सकता है कि प्रत्येक स्वाभाविक प्रवृत्ति का परिष्कार करने की आवश्यकता है। हम आगे इसे अधिक स्पष्ट रूप से देखेंगे।

दो प्रवृत्तियां विशेष रूप से विकर्षणात्मक होती हैं, वैमनस्य और विश्वासघात और इनके अनेक रूप होते हैं।

कुछ लोगों में हानि पहुँचाने की स्वाभाविक वृत्ति होती है, जो नीरो या नादिरशाह की तरह क्रूरता और निष्ठुरता की सीमा तक नहीं पहुँच सकती, किन्तु कुछ हल्के रूप में दूसरों के दुर्भाग्य, और संकट में प्रसन्नता का अनुभव करने वाली होती है या दूसरों की अपकीर्ति और निन्दा सुनने में बर्बस उत्सुकता प्रकट करने वाली होती है।

भर्तृहरि ने कितना सुन्दर लिखा है:—

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा-
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसंतः संति संतः कियंतः॥

"मन, वचन और शरीर द्वारा पुण्य रूप अमृत से भरे हुए और तीनों लोकों को उपकार द्वारा प्रसन्न रखने वाले और पराये के अणु समान गुण को पर्वत के समान बढ़ा कर दिखाने वाले हम

कितने पुरुष पाते हैं ?" लोगों को अपनी मंडली में किसी अन्य अनुपस्थित व्यक्ति की निन्दा बखान करने की बड़ी स्वाभाविक इच्छा हुआ करती है। एक बार एक गोष्टी में एक अनुपस्थित व्यक्ति की चर्चा चलने की बारी आई तो उपस्थित व्यक्तियों में से एक विचारवान सदस्य उठ कर खड़ा हुआ और उसने गोष्टी के अन्य व्यक्तियों को संबोधित कर कहना प्रारम्भ किया कि "भाइयो, अब किसके वध किए जाने की बारी है ?"

भर्तृहरि ने लिखा है:—

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः।
अर्थात् "यदि मन में लोभ है तो अवगुण की क्या कमी, यदि परोक्ष में किसी के दोष कहने की आदत है तो पाप का क्या काम ?"

दूसरों में दोष ढूँढ़ने की वृत्ति को धम्मपद में गर्हित बतलाया है:—

परवज्जानुपस्सिस्स निच्चं उज्झानसञ्ञिनो।
आसवा तस्स वड्ढन्ति आरा स आसवक्खया ॥

"दूसरों के दोषों की खोज में रहने वाले, सदा हाय हाय करने वाले (पुरुष) के चित्तमल बढ़ते हैं, वह चित्तमल के विनाश से दूर हटा हुआ है।"

कबीर ने भी दूसरों के दोष ढूंढ़ने वालों की बड़ी भर्त्सना की है:—

दोष पराए देखि के, चले हसन्त हसन्त।
अपने याद न आवई, जिनका आदि न अन्त॥

भगवान बुद्ध का यह आदेश भी कितना सुन्दर है:—

सुदस्सं वज्जमञ्ञेसं अत्तनो पन दुद्दसं।
परेसं हि सो वज्जानि ओपुणाति यथाभुसं।
अत्तनो पन छादेति कलिं, वं कितवा सठो॥

"दूसरे का दोष देखना आसान है, किन्तु अपना देखना कठिन है,वह (पुरुष) दूसरों के ही दोषों को भुस की भांति उड़ाता फिरता है, किन्तु अपने दोषों को वैसे ही ढांकता है जैसे शठ जुआरी से पासे को।"

वैमनस्य की श्रेणी में ईर्ष्या और द्वेष वृत्तियां हैं जो परस्पर मिलती जुलती ही होती हैं। वर्तमान समय में कोई व्यक्ति जो कुछ उच्चता वा उन्नति प्राप्त किए रहता है उसके प्रति मनुष्य द्वेष रखने लगता है और ईर्ष्या वा स्पर्द्धा उसके प्रति रक्खी जाती है जो कुछ उन्नति कोई करता होता है। ये दोनों वृत्तियां वैमनस्यात्मक और विश्वासघातक होती हैं क्योंकि वे अपनी सफलता दूसरों की असफलता कराकर प्राप्त करने को सन्नद्ध होती हैं, और विकट रूप की स्वार्थ वृत्ति जागृति करती हैं और निन्दा करने के कुकर्म तक में प्रवृत्त करती हैं।

अपकार वैमनस्य वृत्ति का ही हल्का रूप होता है। दूसरों की सुख-वृद्धि के लिए तुच्छ त्याग भी करने वा उसका अवसर आने देनेके लिए तैयार न होना, किसी का तनिक कष्ट दूर करने वा

कुछ सहायता पहुँचा देने की अनिच्छा करना, जिस वस्तु का स्वयं लाभ न उठाया जा सकता हो उससे भी किसी को लाभ उठाने न देने की प्रवृत्ति-ये सभी अपकार वृत्ति के रूप हैं। ऐसे महान व्यक्ति बहुत थोड़े होते हैं जो अपनी हानि उठाकर भी दूसरे का उपकार करें वा अपना अहित न होने पर दूसरे का भला होने देने वाले व्यक्ति भी अधिक नहीं होते परन्तु अपने स्वार्थ के लिए दूसरे का अहित करने वाले अधम व्यक्तियों की कमी नहीं होती किन्तु कुछ ऐसे भी महानीच होते हैं जो निरर्थक ही दूसरे की हानि करते हैं।

भर्तृहरि शतक में लिखा है:—

एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये।
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये॥
तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते केन जानीमहे॥

"वे उत्तम पुरुष होते हैं जो पराये हित के लिए अपने स्वार्थ का परित्याग करते हैं, तथा वे पुरुष मध्यम होते हैं जो अपने स्वार्थ का संघर्ष न होने पर दूसरे का हित करते हैं, तथा वे पुरुष राक्षस रूप होते हैं जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरे का काम बिगाड़ते हैं, किन्तु जो व्यक्ति अपना कोई स्वार्थ सिद्ध न होते हुए भी निरर्थक ही दूसरे का अहित करते हैं, उन पुरुषों को क्या जाना जाय।" उद्योगहीनता की वृत्ति सहज ही अपकार वृत्ति की ओर झुक जाती है क्योंकि उद्योगहीनता की वृत्ति

सभी प्रकार के उद्योग से दूर भागती है, दूसरे का बोझ उठाने को कौन कहे, उ.में हिस्सा बाटने तक से अनिच्छुक होती है।

असहिष्णु वृत्ति बहुत पाई जाती है, और यह वैमनस्य वृत्ति की तरह ही होती है। औरङ्गज़ेब की तरह अपने मत से भिन्न सभी व्यक्तियों पर कुठाराघात करने की तरह वृत्ति किसी में न हो, फिर भी वह विचार-भेद और प्रतिकूलता को सहन न कर सकने वाले, और अपने विचारों के खंडन पर क्रोध भाव को न रोक सकने वाले हो सकते हैं। अधिकांश मनुष्यों में दूसरों का दमन करने की वृत्ति चाहे न हो किन्तु उनमें निरंकुश होने की वृत्ति सन्निहित होती है। जिन जिन भावनाओं के आधीन मनुष्य अपने विचारों के विपक्षी की उग्ररूप से तुच्छता घोषित करता है, वा विरोधी मतावलम्बी का घोर खंडन करता है, उपयुक्त परिस्थिति होने पर उन्हीं भावनाओं के फल स्वरूप वह विरोधियों का भयङ्कर वध और संहार करता भी दिखाई पड़ सकता है।

लोगों में अपने विचारों पर हठपूर्वक टिके रहने की वृत्ति होती है जो अपनी बात को कभी भी ग़लत मानने के लिए तैयार ही नहीं होते, वे कठदलील देने वा विपक्षी की युक्ति की सच्चाई पर पर्दा डालते रहने के लिए सदा तैयार रहते हैं। दो पक्षों के विरोध दूर करने के लिए तनिक परस्पर दब जाने वा भूल स्वीकार कर कोई सुगम मार्ग बनाने की बात सुनने के लिए वे तैयार ही नहीं हो सकते; समझौते के लिए निवेदन करते समय

भी वे इस प्रकार निवेदन करते हैं मानो वे ही बिल्कुल सत्य पक्ष पर हों और अन्य सभी व्यक्ति मिथ्या पक्ष के। उनका पहलू तो इसी प्रकार का होता है जैसा एक सिंह का हो जो किसी बकरी के साथ बैठने के लिए राज़ी हो जाय किन्तु यह शर्त रखे कि बकरी उसके पंजे में रक्खी जाय।

हठ शीघ्र ही असहिष्णुता के रूप में बदल जाता है। निस्संदेह यह दृढ़ चरित्र का लक्षण है किन्तु इसका शमन और भी दृढ़ता का द्योतक है। निकृष्टतम रूप में कदाचित यह मनुष्य और ईश्वर के विपक्ष सभी पापों का मूल है, क्योंकि यह अहं-भाव को सर्वोपरि और सर्वोच्च पद प्रदान करता है। हल्के रूप में यह परिवार और समाज की सच्ची शान्ति के लिए घातक होता है। और मस्तिष्क तथा मनोवृत्ति की असमानता के आधार पर पुरुष तथा स्त्री तक को पृथक कर देता है।

विश्वासघातक वृत्ति हमें दूसरों के साथ धोखा करने के लिए उन्मुख करती है और हम में सर्वश्रेष्ठ को भी स्वभावतया इतिहास-प्रसिद्ध विश्वास-घातकों की श्रेणी ला पटकती है। पूर्ण विश्वासपात्र व्यक्ति दुर्लभ है। चाटुकारिता के अत्यधिक मधुर शब्दों में भी कभी कभी हमें विश्वासघात का अनुभव होता है, प्रायः ऐसा होता है कि स्पष्टोक्ति के कारण हम लोगों की हँसी उड़ाई जाती है और हमारे साथ विश्वासघात किया जाता है, लोग हमारे मुँह पर मीठी बातें करते और पीठ फिरते ही निन्दा करने लगते हैं। एक भद्र पुरुष ने अपने एक प्रशंसक

के विषय में एक बार ठीक ही कहा था कि "वह व्यक्ति मुझ में घृणा की भावना उत्पन्न करता है। जब वह मेरे मुँह पर मेरी अत्यधिक प्रशंसा करने लगता है तो मुझे अनुभव होता है मानो एक अजगर साँप मुझे निगल जाने के लिए अपनी जीभ लपलपा रहा हो।"

यह भी हल्के ढङ्ग का विश्वासघात ही है जो दूसरे के चरित्र वा प्रतिष्ठा अथवा किए हुए विश्वासों के प्रति अविचार पूर्वक तथा लापरवाही से तुच्छता का बर्ताव करना सम्भव बनाता है। कपट का सब व्यवहार विश्वासघात की ही उपज है। प्रत्येक दो-तरफी बात निकालने वाले मुँह और छल कपट के तल में विश्वासघात निहित होता है। युधिष्ठिर को "अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा" की द्वयर्थक बात निकालने के लिए हिमालय में अंगूठा गला कर अपना प्रायश्चित्त करना पड़ा था।

अधीरता का बहुत अधिक प्रसार है। यह प्रचुर क्रियाशीलता की प्रायः आवश्यक धात्री मालूम पड़ती है। शक्ति और प्रगतियों की तीव्रता मनुष्य को विलम्ब और बाधाओं के कारण स्वभावतः अधीर बना देती है और बहुत अधिक क्लान्त मस्तिष्क और स्नायुओं का भौतिक परिणाम प्रायः चिड़चिड़ापन होता है; किन्तु इसका कारण चाहे जो हो, यह अनुचित बात है कि प्रत्येक बात पर, प्रत्येक स्पर्श पर साही के काँटे खड़खड़ाने की भाँति उत्तेजित हुआ जाय और एक निरर्थक सम्वेदन-शीलता में संलग्न

हुआ जाय जो जीवन को एक विषमताओं की लड़ी बनाने में अधिक प्रवृत्त हो।

आलोचनात्मक वृत्ति वहुत ही अधिक संकटों की जननी है। यह वर्षा की निरन्तर झड़ी की तरह है। कभी भी पूर्ण संतुष्ट न होना, प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक वस्तु में छिद्रान्वेषण करते रहना, तुनुकमिजाज़ और आडंबर-पूर्ण होना, सूक्ष्म आचार, नियम-निष्ठा की एक सीमा तक पहुँच जाना, इन बातों के कारण मनुष्य जंगली मनुष्य का साथ पकड़ने की आकांक्षा करने को विवश होता है, जिसकी अधिक भद्दी प्रकृति और साधारण रुचियाँ कम दुरूह होंगी। इतनी छोटी बात ने आनन्द के स्रोत अनेक घरों को दुखदायी झोपड़ों के रूप में बदल दिया है।

यदि सभी कुप्रवृत्तियाँ लापरवाही और अविचारशीलता से अधिक बुरे उद्‌गमों से न उत्पन्न होती हों तब भी ऐसी आत्मलीनता से दूसरों को दुख पहुँचाना कम पाप नहीं है। अवि-चारी होने का किसी को अधिकार नहीं है और यह भारी गलती है कि निर्भीकता को इतना भद्दा होने दिया जाय तथा स्पष्टता को इतना अभद्र होने दिया जाय कि किसी के ईमानदारी से अपनी सम्मति प्रकट करने से किसी को अनावश्यक रूप से आघात पहुँचे। चुस्त हाज़िरजवावी के कारण कितने ही व्यक्ति शत्रु को ही नहीं बल्कि मित्र को भी संतप्त कर देते हैं और अनेक

उत्कट परिहासों में बिच्छू के डंक मारने ऐसी कठोरता होती है।

इसी कारण भगवान मनु ने आदेश दिया है:—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

"सत्य बोले और प्रिय बोले और सत्य भी अप्रिय न बोले, प्रिय भी झूठ न बोले, यही सनातन काल का धर्म है।"

भगवान बुद्ध का भी आदेश है:—

मा वोच फरुसं कञ्चि वुत्ता पटिवदेय्यु तं।
दुक्खा हि सारम्भकथा पटिदण्डा फुसेय्यु तं॥

"कठोर वचन न बोलो, बोलने पर (दूसरे भी वैसे ही तुम्हें बोलेंगे, दुर्वचन दुःख-दायक (होते हैं) (बोलने से) बदले में तुम्हें दण्ड मिलेगा।"

यह लोगों में बहुत अधिक प्रचलित एक धारणा है कि जो वृत्तियां स्वभावतया उत्तम होती हैं उनके परिष्कार के सजावट की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु यह धारणा बिल्कुल भ्रान्त और प्रभु के लिए अप्रतिष्ठा-जनक है। यदि यह धारणा भ्रान्त न हो तो कुछ विशिष्ठ व्यक्तियों के नैतिक जीवन का कुछ अंश मानसिक परिष्कार की आवश्यकता न होने पर भगवान से भी उच्च स्थान प्राप्त करे।

यह धारणा जितनी भ्रान्त है उतनी ही सूक्ष्म भी है। हम लोगों के प्राकृतिक सद्गुणों के रूपान्तर की भी आवश्यकता होती

। उदाहरणार्थ एक स्वाभाविक सत्यनिष्ठा की वृत्ति प्रायः विनय की अपेक्षा गर्व से मिश्रित हो सकती है जो उतावला और अनुदार निर्णयों और भद्दी अविचारी स्पष्टताओं की ओर प्रवृत्त हो सकती है, और निर्भीकता दिखाने में कुछ भूल कर सकती है जो केवल अनुदार ही न हो, बल्कि धृष्ठ भी हो। प्रभुप्रसाद इसका निग्रह करता है और हमें सत्य को प्रेम के साथ बोलने के लिए शिक्षा देता है, दूसरों की भावनाओं की रक्षा करना और यदि भर्त्सना करने की आवश्यकता हो तो उसे अकेले में वा इस तरह कहना सिखाता है जिससे दूसरे को आघात पहुँचाने वा नीचा दिखाने के स्थान पर वह सीख की बात मालूम पड़े। जो लोग यह कहने का दम करते हैं कि "हम सदा वही बात कहते हैं जो न्यायपूर्ण जान पड़ती है" वे कदाचित अपनी लज्जा में गर्व का अनुभव करते हैं।

स्वभावतया मधुर वृत्ति को भी प्रभुप्रसाद के परिष्कारक स्पर्श की आवश्यकता होती है अन्यथा उसमें मिथ्याचारों का प्रतिरोध करने और बुराइयों के विपक्ष पश्चात्ताप करने में दृढ़ता और निश्चितता का अभाव होता है। एक प्रकार से मधुर वृत्ति को रीढ़-विहीन कह सकते हैं जो ढीलेपन के कारण लचक जाया करती है। संसार में बिना पवित्र की हुई उदारता से बढ़ कर अधिक हानिकर कोई भी वस्तु नहीं हो सकती। परिवार में यह माता के हाथ में दृढ़ता के साथ शासनाधिकार नहीं रहने देती जिससे घर के बच्चे आवश्यकतानुसार परिवार के बनाए

अनुशासन को भंग करते रह सकते हैं। राष्ट्र के मामले में यह राज-दंड को खिलवाड़ और कानूनों को रद्दी कागज के टुकड़े, न्यायालयों को परिहास का रूप दे देती है जिससे कानून भंग करने वाले अदंडित फिरते रह सकते हैं और भद्र नागरिक अरक्षित रह सकते हैं।

हम लोगों के अंदर कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो उसी प्रकार बनी रह सके जैसी वह प्राकृतिक रूप में रही हो। प्रकृति जिस वस्तु का निर्माण करती है, प्रभु-प्रसाद उसी का पुनर्निर्माण करता है अन्यथा वह वस्तु दोष-पूर्ण रह जाती है। प्राकृतिक पवित्रता दैवी प्रसाद की श्रेणी से बहुत निम्न होती है। जिस प्रकार सामान्यतः प्रकृति की देन की अपेक्षा संस्कृति के फलस्वरूप हमारी इच्छाओं और उद्योग के द्वारा वास्तविक पौरुष और मानवता का उदय होता है, उसी प्रकार मानसिक जीवन-क्षेत्र में हमारे चरित्र का वास्तविक सौष्ठव इस बात से नहीं उत्पन्न होता कि हम जन्म से क्या हैं बल्कि प्रार्थना-पूर्वक आत्म निग्रह और अपने को बर्बस भगवान का अनुगामी बनाने से उत्पन्न होता है।

इससे प्रतीत होता है कि दैवी विभाजन में हम लोगों के अनुमान से अधिक न्याय और निष्पक्षता है। मस्तिष्क और मनोवृत्ति की कदाचित कोई भी प्राकृतिक विशेषता ऐसी नहीं होती जिस में दृढ़ता और निर्बलता दोनों के तत्व न हों। क्रोध के भी कुछ लाभ होते हैं। नियंत्रित होने पर और वश में रक्खे

जाने पर यह बल और शक्ति का तत्व उत्पन्न करने वाला साधन बन जाता है जिससे साहस-पूर्ण कार्य करना सम्भव होता है। सेतुबन्धन के समय रामचंद्र जी का क्रोध-प्रदर्शन क्रोध के उचित उपयोग का सुन्दर उदाहरण है। तुलसीदास जी ने बड़े सुन्दर शब्दों में लिखा है :—

विनय न मानत जलधि जल, गए तीन दिन बीति।
बोले राम सकोप तब, भय बिनु होय न प्रीति॥
काटहि पै कदली फरइ, कोटि जतनु करू सींच।
विनय न मान खगेस सुनु, डाटहि पै नव नीच॥

उद्वेग अनियंत्रित रूप से लिप्त हो जाने पर नर्क का द्वार खोल देते हैं किन्तु अन्तरात्मा और भगवद्भक्ति द्वारा नियंत्रित होने पर महात्माओं का जन्म देते हैं।

कभी कभी दुष्ट वृत्तियां सुप्तावस्था में होती हैं जिनको सोते हुए अजगर के समान जगाने की आवश्यकता पड़ती है, उपयुक्त उत्तेजना मिलने पर वे सक्रिय होती हैं।

वृत्ति निस्संदिग्ध रूप से हमारे सत्य की धारणा को भी प्रभावित करती है। यह सत्य को देखने के लिए माध्यम है जिसके द्वारा यह तोड़ा मरोड़ा विद्रूप और विवर्ण किया जा सकता है, जैसा कि रंग रंग के चश्मे से दृश्य पदार्थ भिन्न भिन्न रूप में देखा जाता है। जो व्यक्ति स्वेच्छाचारी, प्रतिहिंसात्मक, उद्धत प्रकृति का होगा वह भगवान को भी स्वेच्छाचारी, प्रति-हिंसात्मक और क्रोधी रूप में चित्रित करेगा। अनजाने ही वह

अपनी सदोष मनोवृत्ति की धुँधली ज्योति में देखने के कारण दैवी पदार्थों के संबन्ध में अपनी धारणा विवर्ण कर लेगा। बहुत से व्यक्ति लोगों को पाप का भय दिखाते हुए भगवान द्वारा अत्यन्त क्रूर दंड मिलने, उनके द्वारा मनुष्यों को असह्य वेदना मिलने का बड़ा भयानक चित्र खींचते हैं। यह परम कारुणिक, दया की मूर्ति, अशरण-शरण भगवान पर भारी लांछन ही है और उसे निरर्थक ही निष्ठुर यमदूत के रूप में चित्रित करना है।

सब बातों से अधिक वृत्तियाँ यह प्रकट करती हैं कि मनुष्य अंततम में क्या है, इस कारण यह मनुष्य का प्रभाव भी निर्धारित करती हैं। महात्माओं ने अंततम को ज्योतिर्मय करने का उपदेश दिया है। ज्योति विश्व की सृजित सम्पूर्ण वस्तुओं में सबसे पावन पदार्थ है और इस पर भ्रष्ट होने का कलंक नहीं लग सकता, तथापि यह ज्योति अन्ततम में निर्धूम, निश्शब्द प्रदीप्त रहती है। यह मूक शक्ति साधकों और उपदेशकों के अंतराल में विद्यमान कदाचित शक्ति का सब से प्रबल स्रोत है। बहुत से उपदेशक अपने उपदेशों का अपने आचार व्यवहार से स्वयं ही खंडन करते हैं। उनके उपदेशों का प्रभाव उनकी प्रकृति और व्यवहार के कारण पूर्णतया नहीं तो आंशिक रूप से अवश्य ही विनष्ट हो जाता है। उपदेश करना सरल है किन्तु उसके अनुसार आचरण करना कठिन है तुसीदास ने लिखा है:—

पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे॥

भगवान बुद्ध का भी बचन है कि:—

यथापि रुचिरं पुप्फं वरणवन्तं अगन्धकं।
एवं सुभासिता वाचा अफला होति अकुब्बतो ॥

"जैसे रुचिर और वर्णयुक्त (किन्तु , गंधरहित फूल है, वैसे ही (कथनानुसार) आचरण न करने वाले की सुभाषित वाणी भी निष्फल है।"

जो व्यक्ति अपने उपदेश के अनुरूप अपना आचरण नहीं कर सकता अपने आचार-व्यवहार का उदाहरण अपने उपदेशों के अनुरूप स्वयं लोगों के सम्मुख रख कर अपना उपदेश सार्थक नहीं कर सकता, उसको उपदेश करने का क्या अधिकार हैं ?

निस्सन्देह ही हमारी वृत्तियां मुख्यरूप से दूसरों के वास्तविक सुख का मार्ग बनातीं वा अवरूद्ध करती हैं। बहुत से भवद्भक्तों की निस्स्वार्थपरता और उल्लास को कौन कहे, उनके मुख से ही आभा विकीर्ण होती है। उनके सम्मुख होते ही आह्लाद का प्रसार उसी प्रकार होता है जिस प्रकार सूर्य की किरणों के स्फुटित होते ही भवन आलोकमय हो जाते हैं। उनके सामने आते ही मनुष्य व्यर्थ प्रलाप, वा आलोचनाओं और निरर्थक निन्दास्तुति के बखानों से विमुख हो जाते हैं।

दुष्ट प्रकृतियों की असुन्दरता उनका विलोम देखने से स्पष्ट हो सकती है। साधु पुरुष के संसर्ग में अल्पकाल रहने पर भी दुष्ट प्रकृति का दमन होता दिखाई पड़ता है। गोस्वामी तुलसीदास

ने सज्जन पुरुषों के समागम का उत्कट प्रभाव कई स्थानों पर उल्लिखित किया है, यथाः—

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई, पारस परसि कुधातु सोहाई।
(सत्संग को पाकर दुष्ट सुधर जाते हैं जैसे पारस को छूकर लोहा सोना हो जाता है।)

गोस्वामी जी ने दूसरे स्थान पर फिर लिखा हैः—

धूमउ तजइ सहज करुआई, अगरु प्रसंग सुगंध बसाई।
(अगर की सुगंधि से धुआं भी अपना स्वाभाविक कड़ुआपन छोड़ देता है।)

चाणक्य नीति में लिखा है कि—

सत्संगाद्भवति हि साधुता खलानां

अर्थात् सत्संग से दुर्जनों में साधुता आ ही जाती है।

भर्तृ हरि ने तो सत्संग की महिमा बहुत ही अपूर्व बताई है। उन्होंने नीति शतक में कहा हैः—

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्त्तिं
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम्॥

"हृदय की जड़ता हरती, सच्ची बात मुँह से निकलवाती, भाव बढ़ाती और चित्त से पाप दूर करती है। चित्त को प्रसन्न करती, दिशाओं में कीर्ति फैलाती है! भला कहो सत्संगति मनुष्यों का क्या नहीं करती।"

इसी लिए चाणक्य नीति में लिखा है कि

संसारकूटवृक्षस्य द्वे फले अमृतोपमे।
सुभाषितं च सुस्वादु संगतिः सज्जने जने ॥

"संसार रूप कड़वे वृक्ष के दो ही अमृत तुल्य फल हैं, रसीला प्रिय वचन और सज्जन के साथ सत्संगति ॥"

उदार वृत्ति अनदेखे ही आती है। यह ऊँचा बखान नहीं करती, शानदार दिखलावा नहीं करती, कोई प्रदर्शन नहीं करती, प्रत्युत उल्लास विकीर्ण करती है जो सूर्य के प्रकाश की भांति निश्शब्द भी होता है और उदार भी। उसमें दूसरों की भावनाओं को दैवी बनाने और उनको निरर्थक वेदना से वंचित कर देने की प्रवीणता होती है।

हम लोगों को प्रतिध्वनि की कहानी पढ़ने को मिलती है जिसमें एक बालक अपनी माता से ऐसे दुष्ट व्यक्ति की शिकायत कर रहा था जो उसके घर के पास कहीं छिपा था और उसके कहे हुए सभी शब्दों का उग्र रूप से अनुकरण करत था। उसकी माता ने उसे सलाह दी 'कि जाओ और प्रेम पूर्वक बोलो।' तब बालक ने देखा कि उसकी मधुर वाणी और ध्वनि का ठीक उसी प्रकार अनुकरण हो रहा था।

जीवन प्रतिध्वनियों से परिपूर्ण है। दूसरों की बहुत सी बातें जो हमें आघात पहुँचातीं और क्रुद्ध करती हैं, वे केवल हम लोगों की मलीन चित्तावस्था का प्रतिविम्ब मात्र होती हैं,

हमें इस बात का केवल भान नहीं होता। दूसरे हमको वैसे ही दिखाई पड़ते हैं जैसे हम लोग स्वयं होते हैं।

चित्रकार सामान्यतः चित्रकारी प्रारम्भ करने के पूर्व एक रेखाचित्र खींच लेता है जिसमें पूर्ण चित्र को चित्रित करने के लिए क्रमिक रूप से रंग भरता है। अपने कौशल से वह चित्र का खाका ऐसा बना लेता है कि चित्र पूर्ण होने पर उन रंगों के भरे जाने से चित्र में सजीवता आती दिखती है। क्रमिक रूप से अनेक रंग भरने से चित्र का वह प्रारंभिक खाका सम्पूर्ण शरीर में उदासी और गंभीरता, अथवा सजीवता और भड़कीलापन उत्पन्न कर पुनः प्रदर्शित होता है।

वृत्ति अन्तर्पट है जो अन्य सब को पुट प्रदान करने में सहायक होती है, हम लोग जो कुछ कहते हैं वा करते हैं, उस में अनजाने पुनः प्रकट होती है और हम लोगों की धारणा, विचार और निर्णयों को भी प्रभावित करती है। अतएव हमें अपने मस्तिष्क की आत्मा में परिष्कृत होने की असीम आवश्यकता है।

४—उद्वेगों का नियमन

मन को विचलित करने वाले इन्द्रिय-विषय काम, क्रोध, मद लोभ आदि मनुष्य के विकट शत्रु हैं। हम यहां पर क्रोध का उदाहरण लेते हैं। क्रोध पर विजय करना एक बड़े विकट और दुर्गम गढ़ पर अधिकार करने के समान है। जो क्रोध को पी सकता है वह किसी रणमत्त योद्धा से भी अधिक पराक्रमी व्यक्ति होता है। जिस प्रकार मल्लयुद्ध वा रण-भूमि में भारी शरीर के बल की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार क्रोध के शमन के लिए प्रबल मानसिक शक्ति की आवश्यकता होती है।

इसीलिए भगवान बुद्ध का वचन है कि:—

यो वे उप्पतितं कोधं रथं भन्तं, व धारये।

तमहं सारथिं ब्रूमि, रस्मिग्गाहो इतरो जनो॥

"जो चढ़े क्रोध को भ्रमण करते रथ की भांति पकड़ ले, उसे मैं सारथी कहता हूं, दूसरे लोग लगाम पकड़ने वाले (मात्र) हैं।"

क्रोध एक उद्वेग है। उद्वेग अनुराग से भिन्न होता है क्योंकि यह लत की अपेक्षा उत्तेजित और व्यग्र उद्गार ही होता है जो कुछ अधिक आकस्मिक और परिवर्तनीय होता है और थोड़े समय के लिए अधिक दुर्दम्य होता है। उद्वेग अन्तरात्मा की उस विशिष्ट प्रगति का नाम है जो अत्यधिक गम्भीरता,

प्रचंडता, उग्रता से लक्षित होती है। हम प्राणी के इस पहलू में आश्चर्यजनक प्रतिकूलताएं देखते हैं। प्रायः हम देखते हैं कि जिन व्यक्तियों में उच्च कोटि के विश्वास और अनुराग विद्यमान होते हैं उनके उद्वेग अनियंत्रित और असंयमित होते हैं। जिस व्यक्ति में दया वृत्ति, उच्च आदर्श और उदार भावनाएं हों उसी को क्रोध तथा घृणा तक के द्रुत और उग्र उद्‌गारों से अभिभूत देखा जा सकता है। धार्मिक जगत में भी चरित्रवान जाने वाले व्यक्तियों में उद्वेग का प्रचुर प्रकोप देखा जाता है। वे पक्ष-पाती और कठोर दुराग्रह से अभिभूत होते देखे जाते हैं। उनमें आत्म-निग्रह का अभाव होता है और उद्वेग के क्षणिक उद्‌गार में वे ऐसी क्षति कर लेते हैं कि उसकी पूर्ति वर्षों में भी नहीं हो पाती। अपनी प्रकृति की बागडोर पर उन्हीं का दृढ़ नियंत्रण नहीं होता।

उद्वेगों को अधिकांश लोग दुर्दम्य समझते हैं तथापि वे व्यक्तित्व के अंततम पट में निहित होते हैं। और व्यक्तित्व के निर्मायक तत्वों के मुख्य भाग होते हैं। एक लेखक का कहना है कि मानव केवल शक्ति और विश्वास, तथा मेधा और प्रतिभा से ही निर्मित नहीं होते बल्कि उनमें उनका अपनापन भी मिश्रित होता है, और उद्वेग अपनापन के जीवन के विशिष्ट भाग होते हैं।

जो व्यक्ति अपने उद्वेगों पर नियंत्रण कर सकते हैं वे सांसारिक ख्याति न प्राप्त करने पर भी भगवान की दृष्टि में

यशस्वी व्यक्ति हैं और वे अपने अन्तस्तल के नन्हें साम्राज्य के सिंहासन के अधिकारी होते हैं। बल की लौकिक परिभाषा दूसरी मानी जाती है, बलशाली व्यक्ति वह कहा जाता है जिसकी इच्छा-शक्ति दृढ़ होती है, जिसमें उद्देश्य की सिद्धि की शक्ति और निरंतर अध्यवसाय-परता होती है किन्तु ऐसे व्यक्ति अपने स्वेच्छाचारी आदेशों के सम्मुख सब को झुकाते हैं, सबको आज्ञानुवर्ती करने के लिए विवश करते हैं, उनके बच्चे भी आतंक के मारे उनके सामने से भाग जाते हैं किन्तु भगवान इस बात का आदेश देते हैं कि बलवान व्यक्ति वह है जो दूसरों को दबने के लिए विवश करने के स्थान पर स्वयं दबता है। यदि कोई उच्च उद्देश्य सम्मुख आ जाय तो वह अपने निर्धारित मार्ग को उसके लिए त्याज्य कर देता है। प्रतिहिंसा और प्रतिकार में साहस की सच्ची भावना नहीं होती, प्रत्युत अन्याय सहने और प्रहार के सम्मुख झुक जाने में होती है। जो युद्ध करने से बचा रहना चाहता है वह कायर नहीं होता बल्कि वह होता है जो प्रहार का बदला प्रहार से चुकाता है, जिसमें अपने उद्वेगों के सहन करने की पर्याप्त वीरता नहीं होती, जो अपने साथियों की हँसी सहन नहीं कर सकता, उपहास का पात्र बनने का बल जिस में नहीं होता।

चरित्र की दृढ़ता के लिए दो बातों की आवश्यकता होती है, एक तो इच्छा शक्ति की दृढ़ता, दूसरे आत्म-निग्रह की शक्ति; दृढ़ भावनाएँ हों और उन पर दृढ़ नियंत्रण रखने की शक्ति हो।

बहुत से लोगों को स्वयं स्वामी होना चाहिए वहां वे अधिकृत हो जाते हैं। बहुतों ने भारी भारी सेनाओं का संचालन कर उसे अपनी उगलियों पर नचाया है किन्तु वे अपने उद्वेगों पर अधिकर नहीं रख सकते थे, उनको अपने वशीभूत नहीं कर सकते थे। इसी लिए भगवान बुद्ध कहते हैं कि:—

यो सहस्सं सहस्सेन सङ्गामे मानुसे जिने।
एकं च जेय्यमत्तानं स वे सङ्गामजुत्तमो॥

"संग्राम में जो हजारों हजार मनुष्यों को जीत ले, (उससे कहीं अच्छा) एक अपने को जीतने वाला उत्तम संग्रामजित है।"

उद्वेगों में उदाहरणार्थ क्रोध को हमने लिया है। यह बहुत ही आसानी से उभड़ता है और उभड़ने पर अत्यंत ही उग्र हो जाता है। आंख की लाली में जल उठता है, उभड़ी नाक की बड़ी तेज़ सांस में भड़कता है और दांत पीसे जाते हुए तथा कसी हुई मुट्ठी में जोर बांधता है और प्रचंड प्रहार करता है। किन्तु सामर्थ्यवान व्यक्ति अपनी आत्मा के पट पर विजय पा लेता है और उसे फिर गुप्त भवन में वापस कर देता है। भीतर ही संघर्ष चलने लगता है, कुछ क्षण के मौन रहने, चेहरा पीला पड़ने और जीभ सिकुड़ने के अतिरिक्त और कोई इसका लक्षण वाह्य रूप से नहीं दिखाई पड़ता, किन्तु यह विजय चरित्र पर प्रभाव डालने की दृष्टि से महान होती है। इस कारण बल की माप मनुष्य को विजित करने वाली भावनाओं और उद्वेगों की शक्ति से नहीं हो सकती, बल्कि उनकी शक्ति से हो सकती

है जिनको वह स्वयं विजित करता है। क्रोध ही मुख्य उद्वेग है। क्रोध ही पाप का मूल माना गया है। वाल्मीकि रामायण में लिखा है:—

> क्रुद्धः पापं न कुर्यात्कः क्रुद्धो हन्याद्गुरूनपि।
> क्रुद्धः परुषया वाचा नरः साधूनधिक्षिपेत्॥
> वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित्।
> नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते क्वचित्॥

"क्रोधी कौन पाप नहीं करता, क्रोधी गुरु का भी वध करता है, वह कठोर वचनों से सज्जनों का तिरस्कार करता है। क्रोधी यह नहीं जानता कि क्या कहना और क्या न कहना चाहिए, उसके लिए न कुछ अकर्तव्य है और न कुछ अकर्तव्य है।"

महाभारत में लिखा है:—

> क्रोधो हि धर्मं हरति यतीनां दुःखसंचितम्।
> ततो धर्मविहीनानां गतिरिष्टा न विद्यते॥

"क्रोध से योगियों का दुख से बटोरा हुआ धर्म नष्ट होता है और धर्म नष्ट होने से इष्ट गति नहीं होती।'

महाभारत में ही फिर लिखा:—

> क्रोधमूलो विनाशो हि प्रजानामाहि दृष्यते।

"प्राणियों का नाश इस संसार में क्रोध से देखा जाता है।" महाभारत में दूसरे स्थान पर क्रोध के विषय में लिखा है :—

यो हि संहरते क्रोधं भवस्तस्य सुशोभने।
यः पुनः पुरुषः क्रोधं नित्यं न सहते शुभे।
तस्याऽभावाय भवति क्रोध परमदारुणः॥

"हे सुन्दरी, जो क्रोध को वश करता है, उसका कल्याण होता है, जो सदा क्रोध के वश में होता है, उसका परम दारुण क्रोध ही नाश का कारण होता है।,

चाणक्य नीति में तो लिखा है कि:—

क्रोधो वैवस्वतो राजा तृष्णा वैतरणी नदी।
विद्या कामदुहा धेनुः सन्तोषो नन्दनं वनम्॥

"क्रोध यमराज है, तृष्णा वैतरणी नदी है, विद्या कामधेनु गाय है, और सन्तोष नन्दनवन है।"

अत्यंत क्रोध की चाणक्य नीति में और भी निन्दा की गई है। उसमें अन्यत्र लिखा है:—

अत्यन्त कोपः कटुका च वाणी दरिद्रता च स्वजनेषु वैरम्।
नीचप्रसंगः कुलहीनसेवा चिह्नानि देहे नरकस्थितानाम्॥

"अत्यंत क्रोध, कटुवचन, दरिद्रता, स्वजनों में वैर भाव, नीच का संग, कुलहीनों की सेवा, ये चिह्न नरकवासियों के देह में होते हैं।"

विष्णु पुराण में कहा गया है कि:—

मूढानामेष भवति क्रोधो ज्ञानवतां कुतः।

अर्थात् "अज्ञानियों को क्रोध होता है, ज्ञानवान को कहां ?"

भगवान कृष्ण ने गीता में कहा है:—

आ०—४

क्रोधात्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

"क्रोध से मोह होता है। मोह से स्मृति-भ्रम, स्मृति भ्रम से बुद्धि नाश और बुद्धिनाश से उसका नाश हो जाता है।"

एक शिकारी ने एक दिन एक भारी उक़ाब पक्षी को गोली का शिकार बनाया। जब शिकारी ने अपने शिकार की देख-भाल की तो उसने उक़ाब का एक चंगुल मज़बूत फौलाद के एक फंदे में फँसा पाया जिसमें एक लंबी जंजीर भी लटकती थी। फंदे और जंजीर पर उक़ाब के जोर से चोंच मारने के कई निशान बने थे जिससे पता चलता था कि उक़ाब ने फंदे से छूटने का कितना प्रयत्न किया था। वे इतने भारी तो नहीं थे कि उसका उड़ना असंभव कर देते परन्तु उसकी उड़ान काफी कम करने में वे अवश्य समर्थ हुए थे। इसी कारण उक़ाब के अधिक न उड़ सकने और थक पड़ने से उसे गोली का आसानी से शिकार बनाया जा सका था।

बहुत से मेधावी और कल्पना-प्रवर तथा ऊँची उड़ान में समर्थ सम्भ्रान्त व्यक्ति दूषित उद्वेग वा विषयों के फंदे में फँस कर आकाश के तारों सदृश उच्च आसन से नीचे घसीटे आकर शत्रु की गोली के शिकार बन जाते हैं।

एक बात ध्यान में रखने की है। हमें उद्वेगों का दमन करने के स्थान पर उनका नियंत्रण करना उचित है। कुकृत से बचने के लिए इन्द्रियों और इन्द्रिय-विषयों को निर्जीव करना कायरता है। हम लोगों के उद्वेगों में उच्चता का तत्व निहित होता है,

वे कुपथगामी होते रहते हैं, उनको सुपथगामी बनाने की आवश्यकता है। उनका लोप करना व्यक्तित्व को क्षति पहुँचाना है। उनका सर्वथा लोप करना तो पाप के साथ पुण्य का भी लोप करना है। जो हमें दूषित करते हैं, उसका विनाश नहीं कर देना चाहिए, हमें पाप-लिप्सा से वंचित होना चाहिए, पाप से आंख मूंदने के स्थान पर पापकर्म का परित्याग करना चाहिए। अंग-भंग करने से पवित्रता नहीं प्राप्त हो सकती। अरस्तू ने कहा है, "ऐसा कोई भी महान प्रतिभावान व्यक्ति नहीं जिसमें कुछ विक्षिप्तता भी न मिली हो और न किसी संतप्त आत्मा के अतिरिक्त दूसरे द्वारा कोई भी महान वा उच्च बात कही जाती है।" मान लीजिए कोई व्यक्ति अपने में से क्रोध वृत्ति को सर्वथा विलुप्त कर सका है, तो क्या वह पौरुष की उच्चतम शक्तियों में से एक शक्ति, सेवा के अत्यंत उपयोगी अस्त्रों में से एक अस्त्र तथा नैतिक बल के तत्वों को नहीं खो देता है? अनेक अवसरों पर महान अत्याचार का प्रतिरोध करने के लिए महापुरुषों को क्या क्रोध से काम नहीं लेना पड़ता? कामदेव के भस्म करने के लिए देवों के देव शङ्कर जी को भी तीसरा नेत्र खोल कर अपने रोष का प्रभाव दिखाना पड़ा था। पवित्र क्रोध के बिना कितने अनर्थ नहीं रोके जा सकते थे। क्रोध संकटप्रद हो सकता है। किन्तु क्रोध का अभाव तो उससे भी महान् संकटप्रद है। वह मनुष्य को मांस का लोथड़ा मात्र रह जाने देता है। गीता में निर्देश है कि:—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

"जो शरीर छोड़ने के पहले यहाँ काम क्रोध से उत्पन्न हुए वेग सहने को समर्थ होता है, वही योगी और वही सुखी पुरुष है।"

उद्वेग शक्ति के तत्व होते हैं, उनका पाप के लिए उपयोग किया जाय, वा पुण्य के लिए, केवल उन्हें नियन्त्रित रखने की आवश्यकता है। उद्वेग से भला या बुरा परिणाम निकलवाना उनके नियंत्रण पर निर्भर करता है। जब वे हम पर शासन करते हैं तो भयानक बात होते हैं और जब हम उन पर शासन करते हैं तो उत्कृष्ट होते हैं। एक व्यक्ति ने एक सिंह का बच्चा पाल रक्खा था, वह उसके शब्द वा छड़ी के आदेश का अनुवर्ती था। एक दिन उसने हाथ चाटते चाटते खून का स्वाद पा लिया जिस से उस में रक्त की प्यास जग उठी। तब उसे गोली का शिकार बनना पड़ा। इसी प्रकार जहां ईंधन नहीं होता, वहां आग पड़ी पड़ी बुझ जाती है। ईंधन को पास न आने देने से आग की लपट लुप्त हो जाती है। यदि तुम्हारी अंतरात्मा में शत्रु मँडरा रहा हो तो उसे भूखों मर जाने दो। यदि उसे उर्वर खाद्य मिलेगा, अपने चारों ओर यथेष्ट खाद्य-सामग्री जीवन-निर्वाह के लिए पाएगा तो वह तीव्रगति से परिपल्लवित हो उठेगा, किन्तु हम उसे भूखों रक्खें तो वह पनप कर उठ न सकेगा, वह क्लान्त हो कर लुप्त हो जायगा।

यहां पर चरित्र-सौष्ठव के लिए नितान्त आवश्यक पुरुषत्व

और नारीत्व के विशिष्ट तत्वों को चित्रित करने वाले महान आत्मसंयम के कुछ उदाहरणों को देना समुचित होगा जो प्रदर्शित किए जाने पर नैतिक उत्कृष्टता की भावना से प्रभावित करते हैं।

प्रसिद्ध तत्ववेत्ता और दार्शनिक आइज़क न्यूटन ने मन का अद्भुत साम्य प्राप्त कर लिया था और अपने ऊपर अपूर्व नियंत्रण भी रखते थे। एक समय उनका डायमंड नाम का पालतू कुत्ता उनके कागज़ पत्रों के पास अकेला बैठा हुआ था। संयोग से कुत्ते ने एक जलती बत्ती उलट दी जिसने एक पल में ही उन सब कागजों को भस्म कर दिया जो अनेक वर्षों के कठिन परिश्रम से तैयार हुए थे और उन में खोज का कार्य लगभग पूरा हो चुका था। उन भस्म कागज़ों पर एक दृष्टि डालने से ही इस भारी क्षति का अनुमान हो सकता था जिस की पूर्ति करसकना कठिन था। आइज़क न्यूटन ने दीर्घकालीन गवेषणा और मनन से तैयार हुई वैज्ञानिक खोज को राख की ढेर रूप में हुए देखा किन्तु सब प्रकार की उदासी और निराशा की भावना के उद्गार को दबा कर उन्होंने केवल इतना कहा, "डायमण्ड, डायमण्ड ! तू नहीं जानता कि तूने कितनी दुष्टता की है !"

एक दूसरे व्यक्ति की कहानी इसी प्रकार की है। एक पक्षि-विद्या विशारद ने "अमेरिका के पक्षी" नाम का वृहद् ग्रंथ बड़े ही परिश्रम से तैयार किया था, उसके छपाने के पहले एक बड़ी

भारी दुर्घटना हो गई। उन्होंने यात्रा पर रहने के कारण एक स्थान पर अपने एक मित्र के यहाँ इस पुस्तक के दो सौ मूलचित्रों को, जो बड़ी ही सावधानी से भिन्न भिन्न रंगों में रङ्ग कर तैयार किए गए थे, लकड़ी के सन्दूक में बन्द कर सुरक्षित रूप से रख दिया था। कुछ मास के पश्चात जब उन्होंने लौट कर सन्दूक को खोला तो देखा कि चूहों ने उसमें घर बना लिया है और चित्रों को कुतर डाला है। उनमें लगभग हज़ार पक्षियों के चित्र दिए हुए थे। इस विपत्ति का जो प्रभाव पड़ा उससे उसके मस्तिष्क में तीव्र उत्तेजना होने के परिणाम-स्वरूप कई दिन तक नींद नहीं आ सकी, किन्तु इसके प्राथमिक आघात की उत्तेजना शान्त होने तक उसने धैर्य-पूर्वक प्रतीक्षा की और फिर अपनी बन्दूक, कापी और पेंसिल लेकर तीन वर्ष का कठिन परिश्रम उठाने के लिए चित्रों को तैयार करने जंगल की ओर फिर चला।

जाज़ेफ हेनरी नाम के एक वैज्ञानिक की घटना इसी प्रकार की है। उन्होंने बड़ा परिश्रम और कष्ट उठा कर एक महत्वपूर्ण वैज्ञानिक प्रयोग के लिए अनेक अद्भुत यंत्रों को बना कर तैयारी पूरी की। और मेज़ पर प्रयोग के अद्भुत यन्त्रों को ठीक कर रक्खा जो बहुत सूक्ष्म थे और बड़ी कठिनाई से तैयार हो सके थे। उनके घर में न रहने पर उनकी माता उस स्थान की ओर गईं। संयोग से उनके कपड़े का एक सिरा एक यंत्र से उलझ पड़ा जिससे प्रयोग के सभी यंत्र गिर कर टूट फूट गए। वे डर के मारे वहाँ से हट गईं और श्रीमती हेनरी को वहाँ पर दुर्घटना का

हाल श्रीयुत हेनरी से बताने के लिए छोड़ दिया। इस भयानक कांड को सुन कर श्री० हेनरी एक क्षण तो बिल्कुल स्तब्ध हो गए, उनकी सांस ही रुक गई किन्तु वे तुरन्त बाहर चले गए मानो सांस लेने गए हों, और पांच ही मिनट बाद प्रसन्न और शान्त मुद्रा बनाए लौट आए। उन्होंने अपनी माता से तो कभी कुछ नहीं कहा, किन्तु अपने एक मित्र से एक बार कहा था कि "पांच मिनट के लिए मैंने अपनी माँ को प्यार नहीं किया था।"

इस प्रकार का उद्वेगों का दैवी आत्म-संयम उच्चतम भव्यता और विजय का परिचायक होता है, यह चरित्र की दिव्यता है। विरोधी तत्वों में साम्य लाने और शत्रुता को दमन करने के लिए मनुष्य को पहले अन्तर्गत तत्वों में साम्य उपस्थित करना चाहिए और आन्तरिक बैर द्वन्द का दमन करना चाहिए। एक सम्राट से एक बार पूछा गया कि "आप अपने शत्रुओं को दमन क्यों नहीं करते, उनपर कृपा भाव क्यों दिखाते हैं?" उसका महान उत्तर यह था कि "क्या मैं अपने शत्रुओं को अपना मित्र बना कर उनकी संख्या कम नहीं करता?" पतितों का उद्धार करने और पाप के परिष्कार के लिए उद्वेग को श्रमपूर्वक उद्योग के उत्साह में दैवी वृत्ति की आवश्यकता होती है। अरस्तू ने लिखा है:—"यदि एक लकड़ी एक ओर मुड़ी हो तो उसे सीधा करने के लिए उसको विपरीत दशा में जोर से मोड़ने की आवश्यकता होती है।"

५—वाणी का नियमन

बहुत से लोग मनुष्य की विशिष्टता विवेक में मानते हैं, फिर भी अन्य प्राणियों से मनुस्य को विभिन्न और विशिष्ट बनाने वाला मुख्य गुण कदाचित् उचरित वाणी में हो सकता है। पशु पूर्व-विचार और पश्चात्-विचार करते जान पड़ते हैं, किन्तु वास्तविक उच्चरित वाणी सरीखी कोई क्रिया उनमें नहीं पाई जाती। बनमानुसों की किटकिटाहट, तोते की रटन मानवी वाणी की तुलना नहीं कर सकती। वाणी के ही कारण मनुष्य प्राणी-जगत का शिरमौर माना जाता है।

सुन्दर वाणी के सम्बन्ध में भ्रतृहरि ने बड़ा ही सुन्दर लिखा है:—

> केयूराणि न भूषयंति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला।
> न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्द्धजाः॥
> वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते।
> क्षीयंतेऽखिलभूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्॥

"मनुष्य की शोभा बाहु में बिजायठ (केयूर) पहनने से नहीं और न चंद्रमा की तरह उज्ज्वल हार पहनने से है। स्नान, लेप, पुष्प-शृंगार से अथवा केश रचने से भी नहीं। जिसको शुद्ध वाणी हो वही उसकी शोभा है, दूसरे भूषण व्यर्थ हैं, केवल उसकी वाणी ही भूषण है।"

मनुष्य की आत्मा मानो नगर है, मुँह उसका द्वार है, दोनों ओठ किवाड़ हैं, जीभ मानों फाटक है, मनुष्य के विचार और भावनाएं वाणी रूप में इसी द्वार से बहिर्गत होती हैं। हमारी जीभ बहुत ढीली लटकी रहती है और हमारे अनजाने ही बहुत लपलपाने लगती है, हमारे साथ विश्वासघात कर उतावले और दुष्ट शब्द निकल पड़ते हैं, इस कारण नियन्त्रण रखने के लिए प्रहरी की आवश्यता होती है, जो मुंह से निकलते हुए प्रत्येक शब्द को टोक कर देखे कि उसे बाहर निकलने का उचित अधिकार प्राप्त है, और वह हमारा भेद खोलने वाला शत्रु नहीं है, बल्कि किसी पवित्र कार्य में संलग्न देवताओं और मनुष्य का सेवक है। यह भी ध्यान रखने की बात है कि किसी नगर के परकोटे के द्वार से कोई नगर में वापस आ सकता है किन्तु मानवात्मा के नगर का कोई शब्द द्वार से एक बार बाहर निकल चुकने पर फिर नगर में वापस नहीं आ सकता। वे एक बार जब बाहर हो जाते हैं तो उनका निकलना सदा के लिए होता है, चाहे सुकृत में लगने के लिए हों वा कुकृत के संदेश-वाहक की भाँति इधर उधर भटकने के लिए हों।

प्रश्न यह होता है कि हमारे शब्दों की देख-रेख के लिए ओठों के द्वार पर प्रभु का प्रहरी कौन है। वह अन्तःकरण है। अन्तःकरण देख सकता है कि कहीं शब्द हमारे ही हितों के प्रति विश्वासघातक और दूसरों के प्रति कुचक्री तो नहीं हैं। शब्दों की प्रगति दूसरों के कानों तक कितनी शीघ्र होती है और

कितनी जल्दी वे अपने को शत्रु सिद्ध करते हैं तथा दूसरों को दुष्कर्म में प्रवृत्त कर देते हैं! हमारी पवित्रता और शान्ति पर भी उनकी प्रतिक्रिया होती है। जीभ की उच्छृंखलता के लिए रहिमन का कथन स्मरण रखने योग्य है—

रहिमन जिह्वा बावरी, कहि गइ सरग पताल।
आपु तो कहि भीतर गई, जूती खात कपाल॥

सर्वप्रथम, वाणी का संयम करने के लिए हमें शब्दों को रोकना चाहिए जो स्वयं अनुचित हों। प्रहरी को देखना चाहिए कि जीभ से निकला हुआ कोई भी शब्द हानिकर न हो। हमारे जीवन का अधिकांश विचार अनुराग, प्रवृत्ति आदि अन्तः स्थित होता है, क्योंकि ज्यों हीं हमारे मुख से वाणी निकलती है, दूसरे प्रभावित होना प्रारम्भ होते हैं, अतएव तब केवल यह देखने की बात नहीं रह जाती कि भगवान वा हम स्वयं जीवन को किस रूप में देखते हैं, बल्कि हमारे सहजीवी व्यक्तियों द्वारा जीवन किस रूप में देखा जाता है। सभी पाप हृदय से ही प्रारम्भ होते हैं किन्तु उनकी प्रथम और सब से स्वाभाविक अभिव्यक्ति वाणी है। इस प्रकार हमारे गर्हित शब्द दुहरे पाप होते हैं। ये पाप मनुष्य और परमात्मा के विरुद्ध होते हैं और आत्मा के विरुद्ध भी। क्योंकि जिस पाप की अभिव्यक्ति होती है वह व्यक्त करने वाले के ऊपर अधिक गहरा प्रभाव डालते हैं। शब्द विचार और भावनाओं की निश्चित रूपरेखा निर्मित करते हैं

जब हम सोच रहे हों तब हम दूसरों को भुला सकते हैं किन्तु बोलते समय तो हम समाज में होते हैं। अनुचित शब्दों में मिथ्या की गिनती भी अवश्य ही है। कहा गया है कि

भूठ बिना फीकी लगे, अधिक भूठ दुख मौन।
भूठ तिताई बोलिए, ज्यों आंटे में लौन॥

'बिना भूठ बोले बात फीकी लगती है, और अधिक भूठ बोलना दुख का घर है, इसलिए भूठ उतना ही बोलना चाहिए जैसे आंटे में नमक।" किन्तु यह कथन उचित नहीं है। यह हो सकता है कि सदा पूर्ण सत्य का कथन कर्तव्य न हो, किन्तु हम जब कभी बोलें, केवल सत्य ही बोलें, सत्य को छोड़कर कुछ न बोलें। असत्य कभी निष्पाप नहीं हो सकता। हमें पाप का ग्रहण इसलिए नहीं करना चाहिए कि उससे पुण्य का उदय हो। युद्ध वा आत्म-रक्षा के लिए छल उचित हो सकता है हम उसके लिए विवाद नहीं करते, किन्तु भगवान के लोक में असत्य कभी क्षेमकर नहीं। अतएव केवल सत्य ही ग्राह्य है उपनिषदों में बहुत ही स्पष्ट आदेश दिया गया है कि:—

सत्यं वद, धर्म चर। सत्यान्न प्रमदितव्यम्।
धर्मान्न प्रमदितव्यम्।

सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो। सत्य में प्रमाद न करो। धर्म में प्रमाद न करो।

सत्य की महिमा सभी धर्मग्रंथों ने वर्णित की है वाल्मीकि रामायण में वर्णित है कि:—

सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः ।
सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनैवाप्यते परम् ॥

"सत्य ही एक मात्र ब्रह्म है, सत्य ही में धर्म स्थिर है, सत्य ही अक्षय वेद है, और सत्य ही से परमात्मा मिलता है।"

वाल्मीकि रामायण में अन्यत्र लिखा है:—

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः ।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परम्पदम् ॥
ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरे ।
सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परंगच्छति चाक्षयम् ॥

"सत्य ही ईश्वर है, सत्य ही इस लोक में सदाचारियों का धर्म है, सत्य ही संसार का मूल है, और सत्य के सिवा अन्य परमपद नहीं है। ऋषि और देवता सत्य ही को मानते हैं, सत्य-वादी ही इस लोक में परम अक्षर पद पाते हैं।"

मुण्डकोपनिषद में कहा है:—

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥

"सत्य ही जीतता है, झूठ नहीं, सत्य से वह मार्ग फैला है जो "देवताओं का मार्ग है जिससे ऋषि लोग, जो कामनाओं से परे हैं, वहाँ पहुँचते हैं जहाँ सत्य का परम निधि है।"

महाभारत में कहा है:—

यतः सत्यं यतो धर्मो यतो ह्रीरार्जवं यतः ।
ततो भवति गोविन्दो यतः कृष्णस्ततो जयः ॥

"जहां सत्य है वहाँ धर्म हैं, जहां लज्जा और सरलता है वहां गोविन्द हैं, और जहां कृष्ण हैं वहीं विजय है।"

भर्तृहरि शतक में वर्णित है:—

लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः।
सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्॥
सौजन्यं यदि किं बलेन महिमा यद्यस्ति किं मण्डनैः।
सद्विद्या यदि किं धनैरपयशो यद्यस्ति किं मृत्युना॥

"यदि मन में लोभ है तो अवगुण की क्या कमी। यदि परोक्ष में किसी के दोष कहने की आदत है तो पाप का क्या काम। यदि सत्यता है तो तपस्या क्या होगी। यदि मन शुद्ध है तो तीर्थ से क्या होगा! यदि सुजनता है तो बल का क्या काम! यदि बड़ाई है तो भूषण से क्या! सद्विद्या है तो धन क्या! अपयश है तो मरण क्या!"

गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरितमानस में लिखा है:-

।नहीं असत्य सम पातक पुंजा। गिरि सम होहिं कि कोटिक गुंजा
सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। वेद पुरान विदित मुनि गाए।

चाणक्य नीति में लिखा है:—

सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

"सत्य से पृथ्वी स्थिर है, सत्य से सूर्य तपते हैं, सत्य ही से वायु बहती है, सब सत्य ही में स्थिर है।"

अनुचित या गर्हित शब्दों में अपवित्र शब्द भी सम्मिलित

हैं। बहुत से लोग ईश्वर की सौगन्ध खाकर बात कहा करते हैं जो अनुचित है। भगवान मनु का आदेश है कि:—

न वृथा शपथं कुर्यात्स्वल्पेऽप्यर्थे नरो बुधः।
वृथाहि शपथं कुर्वन्प्रेत्य चेह न नश्यति॥

"बुद्धिमान मनुष्य थोड़ी सी बात के लिये वृथा शपथ नहीं करता, क्योंकि वृथा शपथ करने वाले के इह लोक और परलोक दोनों विगड़ते हैं।" पवित्रता का यह भी अर्थ नहीं कि वह कृत्रिमता युक्त हो जिसमें सतर्कता और अत्यधिक सुन्दरता का समावेश किया गया हो जो कभी कभी अपवित्र कल्पना प्रकट करती है। जब विचार निर्मल हो तो सरल शब्द कोई गर्हित भाव नहीं प्रकट कर सकते। वास्तविक निर्मलता सरलता में ही निहित होती है, निष्कपटता उसका वसन है। पाप लज्जा उत्पन्न करता है। इसी प्रकार सरल वाणी से बचने की अत्यधिक चिन्ता कभी कभी दूषित कल्पना का लक्षण होती है। लोग अपवित्र परिहास और अश्लील कहानियों के लिए क्षमा मांग लिया करते हैं क्योंकि लोगों को हास्य ही वांछनीय होता है किन्तु ये औचित्य की सीमा उल्लंघन कर जाती हैं और नैतिकता को भंग करती हैं। आत्मरंजन के लिए वाणी में अपवित्र अस्थिरता की वृद्धि होती है। यह द्वयर्थक बन जाती है जो स्वयं अनुचित नहीं होती और नैतिक दृष्टि को धुंधला करती है।

विनोद के लिए लोगों को कहानियां सुनाने का स्वभाव होता

है। हास्य की उत्कंठा से लोग उसमें असंगत बातें कहने लगते हैं। परिहास के आत्मरंजन और स्वाभाविक अस्थिरता से लोग अनौचित्य और अपवित्रता तक उतर जाते हैं।

अनुचित शब्दों में उतावली के शब्द भी सम्मिलित हैं। मुख के प्रहरी को सभी अनियन्त्रित शब्दों को रोकना चाहिए। मुख के द्वार पर द्वारपाल रखने का पहला काम यह होना चाहिए कि जब मुँह खुला हो तो लबलब शब्द निकलने से रोके। यदि रोक न रक्खी जाय तो क्रोध के शब्द बेरोक मुँह से बाहर जा सकते हैं। उद्वेग के समय थोड़ी शान्ति रख लेने से, उद्वेग के उभड़े रहने पर भी शब्द मुँह के अन्दर ही रुक सकते हैं। इसी लिए तुलसीदास का कथन है:—

क्रोध न रसना खोलिए, बरु खोलब तरवारि।
सुनत मधुर परनाम हित, बोलब वचन विचारि॥

इस प्रकार क्रोध की उत्तेजना के समय शान्ति रखने का परिणाम बहुत सुन्दर निकलता है। विद्वानों ने उसकी बड़ी महिमा गाई है। महाभारत में लिखा है कि:—

यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते।
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्वदर्शिनः॥

"जो पुरुष क्रोध उत्पन्न होने पर उसे विवेक द्वारा अन्दर ही दबा देता है, उसको विद्वान लोग तत्वदर्शी और तेजस्वी मानते हैं!"

विचार और मनन करने से बहुत से शब्द मुँह से निकलने से रह जाते हैं, और उन्हें इतने समय तक न बाहर आने

दिया जाय जितने में उनका यथार्थ रूप समझ में आ जाय तो वह प्रायः उन शब्दों को बाहर निकलने की आज्ञा न मिलने तुल्य होता है। इसी लिए कहा गया है कि बोलने के पूर्व दो बार सोच लेना चाहिए। तुलसीदास ने ठीक कहा है:—

फेट न फूटत बिन कहे, कहे न लागत देर।
बोलब वचन विचारयुत, समुझि सुफेर कुफेर॥

कबीर का भी यह अनमोल उपदेश क्या कभी भुलाने योग्य है कि:—

बोली तो अनमोल है, जो कोई जाने बोल।
हृदय तराजू तोल कर, तब मुख बाहर खोल॥

अश्लील और मूर्खता पूर्ण बातों से बचना चाहिए। एक विद्वान का कहना है, "हमें व्यर्थ शब्दों से धोखा खाने से सावधान रहना चाहिए जिनमें सत्य वा वास्तविकता का अभाव होता है। महत उद्देश्य से रहित सभी बातों में यह आशंका रहती है, यदि वाणी का उपयोग उपदेश, ज्ञान-वृद्धि वा आदेश के लिए कल्याणकारी शब्दों रूप में न हो तो हमारे द्वारा उनके मिथ्या-लाप और ओछेपन में उपयुक्त होने की सम्भावना है। पाप के प्रति हमारी प्रवृत्तियां विशेष कर वाणी रूप में फूट पड़ती हैं जो निरंतर कुकृत की ओर झुकती रहती हैं। विचार-हीन वाणी सरलतया असावधान वाणी बन जाती है और असाव-धान वाणी द्वेषपूर्ण वाणी होती है। सरहेनरी सिडनी ने अपने पुत्र को लिखा था "प्रकृति ने जीभ को दांत, ओठ, और ओठों

के ऊपर भी बाल से आवेष्टित कर रक्खा है, ये उस इन्द्रिय की चंचल गति के लिए लगाम हैं।" कोई भी व्यक्ति जीभ को निश्चिंत रूप से असावधानी से वाणी निकालने के लिए नहीं छोड़ सकता।

अरस्तू ने लिखा है कि "दो कलाएं होती हैं, एक तो बोलने की, दूसरे जिह्वा को मौन रखने की। कभी कभी कुछ न बोलना ही हमारा कर्तव्य होता है। द्वारपाल को मुखद्वार बन्द रखना चाहिए। यह सुगम कार्य नहीं है। हम बहुत अधिक बोलने के लिए उत्सुक रहते हैं। एक विद्वान का कहना है कि "जो तुम्हारा अत्यंत अंतरंग हो उसके लिए भी अपना मुख-द्वार बन्द रक्खो।" यह एक सारगर्भित बात है कि भगवान ने हमें एक ही मुंह दिया है किन्तु दो आंखें और दो कान दिए हैं मानों उनका यह मंतव्य है कि हम दो बार देख और सुन लें तब एक बार बोलें।

कभी कभी अपनी कुछ अनुभूतियां और सूझों को हम कार्यान्वित करने के स्थान पर उनकी चर्चा भर कर लेते हैं हमारा उत्साह केवल शब्दों में उड़ जाता है। ज्योंही कोई उच्च भावना वा उत्तम योजना हमारे मन में आई कि हम अपने किसी समीपी व्यक्ति से उसका बखान करने के लिए उतावले हो कर उसके पास दौड़ पड़ते हैं। एक विद्वान ने लिखा है कि भाप के इंजिन में कभी कभी सीटी देने में भाप बर्बाद हो जाती है जिसे इंजिन के चलाने में उसके पिस्टन को परिचालित करने में प्रयुक्त होना चाहिए था। इस प्रकार होहल्ला तो अधिक हो जाता है और

गति कुछ भी नहीं। अमेरिका की मिसीसिपी नदी में बहुत दिनों पहले एक ऐसे जहाज के चलने की बात सुनी जाती है जो इतनी कम शक्ति के भाप के इंजिन से चलता था कि जब सीटी दी जाती तो सीटी में भाप निकलने से जहाज चलना ही बंद हो जाता था। इसी प्रकार एक ईरान के बादशाह ने एक दार्शनिक से पूछा कि "मुझमें क्या कमी है?" तो उसने उत्तर दिया कि "मौन रहने की कला।" इसी बात को एक जर्मन मुहावरा भी बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त करता है कि "वाणी रुपहली होती है किन्तु मौनता सुनहली।" चाणक्य नीति में भी कहा है:—

मनसा चिन्तितं कार्य्यं वाचा नैव प्रकाशयेत्।
मन्त्रेण रक्षयेद्गूढं कार्य्यं चापि नियोजनेत्॥

"मन से सोचे हुए काम को वाणी द्वारा प्रकट न करे, किन्तु मंत्रणा से मनन पूर्वक उसको गुप्त रक्खे। और गुप्त ही उसको कार्यान्वित भी करे।"

गीता में मौन को मानसिक तप कहा है। यथा:—

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्चते॥

"मन की प्रसन्नता, शान्तभाव, मौन, आत्मसंयम, अन्तःकरण की शुद्धि इस प्रकार का तप मानसिक तप कहलाता है।"

हमें इससे भी एक पग आगे बढ़ना चाहिए। हमें यह देखना चाहिए कि वाणी के क्रियात्मक और नकारात्मक दोनों पहलू के रूप क्या हैं। हमें केवल अनुचित और हानिकर शब्द से ही

वंचित नहीं रहना चाहिए, बल्कि जिनमें हितकर होने की कोई शक्ति न हो उनसे भी वंचित होना चाहिए। मुँह के संतरी को हमारे शब्दों को अपना उद्देश्य प्रमाणित करने के लिए निश्चय ही विवश करना चाहिए। हमारे शब्द मुँह से ऐसे ही निकलने चाहिए जो मधुर, कल्याणकारक और श्रोता के लिए हितकर तथा हृदयग्राही हों। कठोर वचन से हमें अवश्य बचना चाहिए। मधुर वचन के लिए हमें कुछ अपने पास से व्यय भी नहीं करना पड़ता, अतएव दूसरे को सहज ही उल्लसित किया जा सके तो मीठी बोली को क्यों न ग्रहण किया जाय। चाणक्य नीति में बड़ा ही सुन्दर लिखा है:—

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यंति जंतवः।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने किं दरिद्रता॥

"मधुर वचन के बोलने से सब जीव संतुष्ट होते हैं, इस कारण उसी का बोलना योग्य है, वचन में क्या दरिद्रता?" इतना ही नहीं, मधुर वचन को पृथ्वी की एक अनमोल वस्तु, अपूर्व रत्न माना है जिसके आगे सभी रत्न हेय हैं। चाणक्य नीति में अन्यत्र उल्लिखित है:—

पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि अन्नमापः सुभाषितम्।
मूढैः पाषाणखण्डेषु रत्नसंज्ञा विधीयते।

"पृथ्वी में तीन रत्न हैं, अन्न, जल और प्रियवचन। पत्थर के टुकड़ों को मूर्खों ने रत्न नाम दे रक्खा है।"

तुलसीदास ने भी लिखा है:—

तुलसी मीठे वचन ते, सुख उपजत चहुँओर।
वशीकरण इक मन्त्र है, परिहरु वचन कठोर॥

किसी कवि की यह युक्ति भी कितनी सुन्दर है:—

कोयल काको देत है, कागा कासों लेय।
मीठे वचन सुनाय के, मन सब को हर लेय॥

माधुर्यमय वाणी के लिए वेदों में भी उपदेश है। अथर्व वेद में लिखा है:—

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद्भूयासं मधुमन्दृशः॥

"हमारा आचरण माधुर्य पूर्ण हों, माधुर्य पूर्ण कार्य में हम रत हों, माधुर्य पूर्ण हमारी वाणी हो, हमारा सब कुछ माधुर्य पूर्ण हो।"

मधुर के साथ ही हमारी वाणी हितकर भी अवश्य ही होनी चाहिए। गीता में स्पष्टतया आदेश दिया गया है कि:—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

"उद्वेग-हीन, सत्य, प्रिय तथा हितकर वाक्य तथा वेद पाठ का अभ्यास, ये वाचिक तप कहलाते हैं।'

वाणी के संयम और वाणी का महान् उद्देश्य समझने के लिए गीता का केवल यही एक श्लोक स्मरण रखना उचित है। यदि हम केवल इसी व्रत का अनुसरण कर अपनी जिह्वा को

रोक थाम कर चलें तो हमारे जीवन में नित्य घटित होने वाले अनेक अवांछित कांडों से छुटकारा मिल सके।

शब्द की उत्पत्ति विचारों का वहन करने के लिए हुई थी, उचित शब्द जोरदार शब्द होते हैं। वाणी को उन्नति का साधन बनाने के लिए हम पर नैतिक उत्तर-दायित्व है। हमें वाणी का प्रयोग दूसरों की उन्नति और श्रेय के लिए ही करना चाहिए। हमें वाणी में भाषा की भी शुद्धता का ध्यान रखना चाहिए। हमारा शब्द-विन्यास भी ठीक होना चाहिए। गँवारू वाक्यों को उत्कृष्ट संस्कृति और रुचि के ही विरुद्ध नहीं कहा जा सकता, वे उत्कृष्ट नैतिकता के भी विरुद्ध होते हैं, क्योंकि निम्न और गँवारू बोली वक्ता को भी असर्यादित करती है और श्रोता को भी भ्रष्ट करती है। हमें विचारों की प्रभावोत्पादकता के अर्थ में प्रभावोत्पादक अवश्य ही होना चाहिए। एक सच्चा वक्ता कितना प्रभावोत्पादक होता है जो इसलिए नहीं वक्तृता देता कि उसे कुछ कहना ही चाहिए, बल्कि इसलिए कि बोलने के लिए उसके पास कुछ सामग्री है। ऐसा व्यक्ति जिस अधिकार, शान और शक्ति के साथ बोलता है उससे बढ़ कर कोई राज्याधिकारी भी प्रभाव दिखाता नहीं मिल सकता।

इस प्रकार वार्तालाप में भी हमें कुछ बात करने योग्य बात ध्यान रखने पर ही श्रोता बात पर ध्यान देने वाले मिलते हैं। कोई सुन्दर उद्देश्य सामने रखकर वार्तालाप करनी चाहिए। इस प्रकार प्रलाप, गपशप, तथा तुच्छ बातें त्याज्य हैं। गोष्ठी में

वार्तालाप के लिए और विशेष सावधानी की आवश्यकता है, हमें उसमें चर्चा का विषय साहित्य के भण्डार, वैज्ञानिक खोज वा कलात्मक कृतियों को वा नूतन आविष्कारों को बनाना चाहिए।

वाणी के लिए आध्यात्मिक विषय बहुत सुन्दर हैं। आध्यात्मिक विषयों से अधिक भव्य वार्ता का विषय नहीं। ज्योतिर्विज्ञान की चर्चा में सृष्टि की अनन्तता देखने को मिलती है। अतएव यह बहुत उत्तम संलाप-सामग्री हो सकता है। धर्म-चर्चा से धर्म का मर्म हृदयङ्गम करना बड़ा सुन्दर है। भगवान बुद्ध ने तो आदेश दिया है कि "हे भिक्षुओ, आपस में इकट्ठे होने पर दो बातों में से एक होनी चाहिए, या तो धार्मिक बातचीत या फिर आर्य-मौन।"

एक राजदरबार की बात सुनी जाती है कि वहां साक्षी वा विचाराधीन व्यक्ति की सब बातें उसके अनजाने एक व्यक्ति पर्दे की आड़ में बैठ कर लिख लिया करता था, किन्तु सृष्टि के समस्त अगणित पुरुषों की जिह्वा से निकले शब्द तो अखिल विश्वनियंता की लेखनी से ही पर्दे के अन्दर लिपिबद्ध किए जा सकते हैं! और यदि इसी बही से ही हमारे पाप-पुण्यों का लेखा होना है तो हम और आप यमराज के सम्मुख रखने के लिए किस प्रकार का आवेदन-पत्र बना रहे हैं! यह विचार कीजिए कि हम कितनी अधिक बातें निष्प्रयोजन ही करते हैं! कितने अधिक शब्द गर्व से, ईर्ष्या से, वैमनस्य से, क्रोध से

और घृणा से निरर्थक, मूर्खता-पूर्ण और दुष्टता-पूर्ण बोलते हैं।

इस प्रकार वाणी के संयम का विविध रूप से हमें उपदेश मिलता है। हमें थोड़े शब्दों, में वाणी के संयम के लिए अपना अंतःकरण शुद्ध रखना चहिए, विचार, भावना और वृत्तियां शुद्ध बनानी चाहिए। यदि हमार हृदय पवित्र रहेगा, उसमें अनुरक्ति और सङ्गति परिपूर्ण होगी तो जीभ द्वारा न तो अहितकर और कलुषित शब्द निकाल सकने की सम्भावना होगी और न उससे हम पर वा दूसरों पर कोई आपत्ति ही आ सकेगी। और न सत्य तथा भगवान के अनुरक्त होने पर हम में विवेक वा प्रभु-प्रसाद की ही न्यूनता हो सकेगी।

जिनकी जिह्वा असंयमित, अपवित्र शब्द उच्चरित करने के लिए किसी प्रलोभन से भ्रष्ट नहीं होती वे लोग धन्य हैं!

६—आचार का नियमन

मनुष्य जिस रूप में जीवन व्यतीत करता है उसी का सार तत्व आचार कहलाता है। यह जीवन के क्रम, व्यवहार वा बर्ताव की व्याख्या करता है। इसकी मुख्य महत्ता दो बातों में होती है, एक तो यह आन्तरिक जीवन की अभिव्यक्ति है, दूसरे यह प्रत्यक्ष उदाहरण है जो दूसरों के सम्मुख अनुसरण करने के लिए रक्खा जाता है।

यह आन्तरिक मनुष्य की अभिव्यक्ति है। जिस सिद्धान्त पर कोई काम होता है उसका भगवान की दृष्टि में जो मूल्य होता है वही वह सिद्धान्त होता है। अतएव सदाचार, जिसे भगवान देखता है, केवल सच्चरित्रता से ही उत्पन्न हो सकता है, हम सत्कर्म करने से उत्तम नहीं बनते, बल्कि पहले उत्तम बन जाने पर हम सत्कर्म करते हैं। एक विद्वान ने बहुत ही सत्य और विवेक पूर्वक बात कही है कि "भगवान के साथ हमारा सम्बन्ध उत्कृष्ट नहीं हो सकता, यदि हमारे सम्बन्ध अन्य मनुष्यों के साथ निकृष्ट हों। जो धर्म अनैतिक होता है वह अधार्मिक होता है और जो नैतिकता अधार्मिक होती है वह अनैतिक होती है।" एक दूसरे विद्वान का कथन है कि "कि इससे बढ़कर घातक कोई आत्म-वंचना नहीं है जो अंत:करण को उच्च भावनाओं की तरंग से विभोर किए रहती है, जब कि जीवन भूलुंठित और इन्द्रियासक्त बना रहता है।"

इन्हीं वाक्यों के साथ हम अमेरिका के राष्ट्रपति रूज़वेल्ट के वाक्यों को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकते जिसमें कहा गया है, "मैं किसी भी व्यक्ति को निर्द्वन्द जीवन का सिद्धान्त न आदेशित करूंगा, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति को किसी महत् उद्देश्य के लिए कर्मठ जीवन का उपदेश दूंगा, शिष्टता, निष्कपट व्यवहार, ईमानदारी के वर्ताव का जीवन परिवार, पड़ोसियों और राष्ट्र के प्रति बिताने का आदेश करूंगा और इस प्रकार राष्ट्र को सबसे निर्द्वन्द जीवन की शिक्षा न दूंगा प्रत्युत महत्तम जीवन का मार्ग निर्देशित करूंगा।"

मानव-जीवन को ऊँचा उठाने वाले पुनीत आचार की शिक्षा हमारे शास्त्रकारों ने बार बार दी है। भगवान मनु ने निर्देश किया है कि:—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

"वेद, स्मृति, सदाचार और स्वयं अपने को प्रिय मालूम होना, ये ही साक्षात धर्म के चार प्रकार के लक्षण कहे गए हैं।"

फिर सदाचार को ही धर्म का मूल बतलाते हुए मनु भगवान का वचन है कि:—

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्निबद्धं स्वेषु कर्मसु।
धर्ममूलं निषेवेत सदाचारमतंद्रितः॥

"श्रुति और स्मृति में जो सदाचार कहा गया है, जो अपने कर्म में सम्पर्क रूप से मिला हुआ है और जो धर्म का मूल है,

आलस्य रहित होकर उस सदाचार का पालन करना चाहिए।"

मनु ने मनुस्मृति में आचार की महत्ता बार बार बताकर लिखा है कि:—

> एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
> सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्॥

"मुनियों ने आचार में इस प्रकार धर्म की गति देख श्रेष्ठ आचार को ही सब तपस्याओं का मूल माना है।"

आचार का और अनाचार का फल मनुस्मृति में इस प्रकार वर्णित है:—

> आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
> आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥
> दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
> दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥

"आचार से दीर्घ आयु मिलती है, आचार से आकांक्षित संतानें प्राप्त होती हैं। आचार से अक्षय धन लाभ होता है, आचार से अशुभ लक्षणों का नाश होता है। दुराचार से पुरुष संसार में निन्दित, सर्वदा दुःखी, रोगी, और अल्पायु होता है।"

मनुष्य के श्रेष्ठ आचार का निर्देश भगवान कृष्ण ने गीता में बड़े विशद रूप से किया है। गीता के तेरहवें अध्याय में क्षेत्र क्षेत्रज्ञ के प्रसंग में इसका विस्तृत निदर्शन है। सोलहवें अध्याय में दैवी संपद का वर्णन भी इस प्रकार का है।

भगवान कृष्ण का वचन है:—

अभयं सत्त्वं संशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्चयज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

"निर्भयता, हृदय की शुद्धि, ज्ञानयोग में दृढ़ स्थिति, दान करना इंद्रिय-संयम, यज्ञकर्म, वेद-पाठ, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, क्रोध न करना, त्याग, शांति, पीछे निन्दा न करना, जीवों पर दया करना, लोभ न करना, कोमलता, लज्जा और चंचल न होना; तेज, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, बैर न करना और अत्यंत गर्व न करना, हे अर्जुन दैवी सम्पत्ति में जन्म वाले को होते हैं।

इसके विपरीत आसुरी संपद वाले को बतलाते हैं कि:—

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्।

"छल गर्व, अहङ्कार, क्रोध, और कडुवा वचन बोलहे अर्जुन, आसुरी सम्पत्ति में जन्मे हुए को होते हैं।"

आसुरी सम्पत्ति वाले व्यक्तियों का वर्णन गोस्वामी तुलसी-दास जी की रामायण में वर्णित खलों के लक्षण से अधिक सुन्दर नहीं किया जा सकता। गोस्वामी जी लिखते हैं:—

खलन्ह हृदय अति ताप बिसेखी, जरहिं सदा पर संपति देखी।
जहँ कहुँ निन्दा सुनहिं पराई, हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई।
काम क्रोध मद लोभ परायन, निर्दय कपटी कुटिल मलायन।
बैरु अकारन सब काहू सों, जो कर हित अनहित ताहू सों।
झूठै लेना झूठै देना, झूठै भोजन झूठ चबेना।
बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा, खाहिं महा अहि हृदय कठोरा।
लोभइ ओढन लोभइ डासन, शिश्नोदर पर यमपुर त्रासन।
काहू की जो सुनहिं बड़ाई, श्वास लेहिं जनु जूड़ी आई।
जब काहू की देखहिं बिपती, सुखी होहिं मानहुँ जग नृपती।
स्वारथ रत परिवार बिरोधी, लंपट काम लोभ अति क्रोधी।

हर द्रोही,पर दार रत, पर धन पर अपवाद।
ते नर पामर पाप मय, देह धरे मनुजाद॥

गीता में भी इन दुरात्माओं का विशेष परिचय दिया गया है। मुख्य रूप से उनके लिए कहा गया है कि:—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥

"आसुरी लोग कर्तव्य और अकर्तव्य को नहीं जानते, उनमें न पवित्रता होती है, न आचार और न सत्य।"

महाभारत में भी आसुरी वृत्ति वालों की चर्चा की गई है:-

व्याजेन चरते धर्ममर्थं व्याजेन रोचते।
व्याजेन सिद्ध्यमानेषु धर्मेद्विजसत्तम॥

तत्रैव रमते बुद्धिस्ततः पापं चिकीर्षति।
सुहृद्भिर्वार्यमाणश्च पंडितैश्च द्विजोत्तम॥

"वे छल से धर्म करते, छल से धन प्राप्त करते हैं। वे छल से धन के प्राप्त होने पर उसी में अपनी बुद्धि को लगाते हैं और पंडित या मित्र के भी समझाने पर पाप ही करना चाहते हैं।"

कुलीनत्वे च रमते दुष्कुलीनान्विकुत्सयन्।
धनदर्पेण दृप्तश्च दरिद्रान्परिकुत्सयन्॥
मूर्खा निति परानाह नात्मानं समवेक्षते।
दोषान्क्षिपति चान्येषां नात्मानं शास्तुमिच्छति॥

"हम कुलीन हैं, यह समझकर वे प्रसन्न होते हैं, और नीच कुलवालों का तिरस्कार करते हैं और हम धनवान हैं यह समझकर निर्धनों का अपमान करते हैं, मैं पंडित हूँ, अन्य सब मूढ़ हैं, यह समझकर दूसरों के दोष खोजते हैं और अपने दोष दूर करने की इच्छा नहीं करते।"

कृष्ण भगवान ऐसे ही व्यक्तियों के लिए कहते हैं कि:—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।

"अनेक चिन्ता से भटके हुए, मोह जाल में फँसे हुए और विषय-भोग में आसक्त हुए वे अपवित्र नरक में गिरते हैं।"

इसीलिए कठपनिषद में निर्देष किया गया है कि—

नाविरतो दुश्चरितान्नशांतो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञाननैनमाप्नुयात्॥

"जिसका दुराचार बन्द नहीं होता, जो शांत नहीं है, जिसका मन वश में नहीं है, जिसके मन को धैर्य नहीं है वह ज्ञान से भी भगवान को नहीं पाता।"

योगवासिष्ठ में सज्जन का लक्षण इस प्रकार दिया है कि:-

लोभमोहरुषां यस्य तनुतानुदिनं भवेत्।
यथाशास्त्रं विहरति स्वस्य कर्मसु सज्जनः॥

"जिसके लोभ मोह और क्रोध में प्रति दिन कमी होती जाती है और अपने कर्मों में जो शास्त्र के अनुकूल विहार करता है वही सज्जन है।"

पुनीत आचरण का आदर्श रखते हुए हमारे स्मृतिकारों ने इस बात की सदा शिक्षा दी है कि हमारी जो कुछ आचार-निष्ठा हो, वह केवल बाह्य वा मौखिक नहीं होनी चाहिए। वह मनसा वाचा, कर्मणा होनी चाहिए। जो बाह्य आचार रक्खा जाय, वही मुंह से भी निकले और हृदय में भी वही हो। केवल मौखिक बातें करने से व्यवहार करना कठिन होता है इस पर कबीर का उपदेश ग्राह्य है:—

कथनी मीठी खांड़सी करनी विष की लोय।
कथनी से करनी करे, तो विष से अमृत होय॥

"बातें बनाना चीनी की भांति मीठा है, किन्तु करना विष की तरह कड़ुवा। यदि करनी दिखावे तो विष भी अमृत हो जाता है।" इस प्रकार केवल मुंह से कहने वा मन में भाव रखने वा संकल्प करने से ही मनुष्य ऊँचा नहीं उठ सकता, उसका

व्यहृत आचरण, जीवन-क्रम वैसा ही होना चाहिए। एक महात्मा के लिए एक विद्वान ने लिखा है कि "उसका उपदेश सुन्दर था; उसके लेख उससे भी सुन्दर थे; किन्तु उसका जीवन इन सबसे श्रेष्ठ था।"

जो व्यक्ति केवल वाह्य धर्मनिष्ठा से भगवत्प्राप्ति करना चाहते हैं और जिनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, उनके लिए एक विद्वान् ने लिखा है! "इस लोक में हम अपना यथार्थ चरित्र शरीर के आवरण में भले ही ढके रहें किन्तु जब देहावसान हो जाने पर हमारी अन्तरात्मा पर कोई आवरण नहीं रह जायगा और वह नैतिक और आध्यात्मिक रूप से कांच की तरह पारदर्शी हो जायगी, तब हमारा यथार्थ रूप दिखाई पड़ेगा।" भगवान बुद्ध ने वाह्य शुद्धि और धर्मनिष्ठा रखने वालों के लिए क्या ही सुन्दर उपदेश दिया है:—

किं ते जटाहि दुम्मेधः किं ते अजिनसाटिया।
अब्भन्तरं ते गहनं बाहिरं परिमज्जसि।

"हे दुर्बुद्धि! जटाओं से तेरा क्या (बनेगा), (और) मृगचर्म पहनने से तेरा क्या? भीतर (दिल) तो तेरा (राग आदि मलोंसे) परिपूर्ण है, बाहर क्या धोता है?"

मनुष्य के आचार की कसौटी उसका अंतःकरण होता है। मनु भगवान ने कहा है कि:—

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात्परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत॥

"जिस कर्म के करने से अन्तरात्मा को परितोष हो, वह यत्न-पूर्वक करे। इसके विपरीत जो कर्म हो बन्द करे।"

मनुष्य का अन्तःकरण जिस कार्य से संतोष का अनुभव करे वह उसके हृदय के अनुकूल ही होगा। शुद्धाचरण की यह बड़ी सुन्दर कसौटी मनु ने बताई है।

आचार की श्रेष्ठता के लिए हमें अपने जीवन-क्रम में जिन गुणों की आवश्यकता है, हम उनकी यहां पर कुछ चर्चा करना उचित समझते हैं। सर्वप्रथम हमारे जीवन-क्रम में एक-रूपता होनी चाहिए, समस्त प्राणियों के साथ समान व्यवहार होना चाहिए। वाल्मीकि रामायण में लिखा है :—

यदाऽसौ सर्वभूतानां न द्रुह्यति न कांक्षति।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म संपद्यते तदा॥

जब वह सब जीवों से कर्म, मन और वचन से राग द्वेष नहीं करता तब ब्रह्म को प्राप्त होगा।"

श्रेष्ठ आचार के व्यक्ति का अंतःकरण भी शुद्ध होता है। जिस प्रकार नेत्र और कान ज्योति वा शब्द को बोधगम्य करने वाले होते हैं, उसी प्रकार मन सत्य वा असत्य का ज्ञान प्राप्त करने वाला होता है। वैसे ही अंतःकरण मनुष्य के आचार का नेत्र होता है। कुछ लोग दूसरों की सम्मति की विशेष चिन्ता करते हैं। वे दूसरों के द्वारा अपनी प्रशंसा करवाना चाहते हैं और वे सच्चे और पवित्र आचरण तथा गौरवपूर्ण जीवन-क्रम के उदाहरण स्वरूप कहलाए जाने के आकांक्षी

होते हैं। बहुत से व्यक्ति वर्तमान समय में अपने प्रति लोगों की सम्मति की परवा न कर अपने मरने के पश्चात् संसार में यशस्वी बने रहने की विशेष चिन्ता करते हैं, किन्तु हमें अपनी ख्याति की अपेक्षा आचरण का बहुत अधिक ध्यान रखना चाहिए। हमारे अंतःकरण में किसी भी मानव वा भगवान के प्रति द्रोह का भाव न होना चाहिए। अंतःकरण हमारी अंतरात्मा में भगवान की पुकार होता है, अतएव यह भगवान का आदेश ही होता है। सांसारिक प्रशंसाओं की अपेक्षा उच्च उद्देश्य की हमारी यह आभ्यंतरिक चेतना और पवित्र चेष्टा निस्सीम रूपसे बहुत अधिक मूल्यवान होती है।

मंगलाप्रसाद परितोषिक प्राप्तकर्त्ता बा० गंगाप्रसाद उपाध्याय ने अपनी पांडित्यपूर्ण पुस्तक 'आस्तिकवाद' में लिखा है:—

"हम को सत्पथ पर रखने के लिए सब से पूर्व तो हमारा अन्तःकरण ही है जिसको महर्षि दयानन्द परमात्मा की ओर से उपदेश बताते हैं। वस्तुतः अन्तःकरण कितना बड़ा रक्षक है? संसार के कितने आदमी इसी अन्तःकरण के शब्दों को सुनकर कुपथ पर विचलित नहीं होने पाते। संसार सागर में तैरते हुए जीवनके लिए यह एक बड़ा भारी ज्योतिस्तम्भ है जिसको देखकर हम पाप रूपी चट्टान पर टकरा न जायँ। गिरतों का सहारा अन्तः-करण ही है। यदि अन्तःकरण हमको धर्म अधर्म का उपदेश न करता होता तो हम न जाने कितने बड़े गढ़ में गिर गए होते! जिस समय संसार के सभी उपदेष्टा थक जाते हैं, जब

समस्त प्राकृतिक प्रकाश छिप जाता है, अन्धेरी रात में, घोर जंगल में मनुष्य का अन्तःकरण अपने अतुल प्रकाश द्वारा संन्मार्ग बताता है। यदि हिसाब लगाया जाय तो सौ में दो चार ही निकलते हैं जो इस प्रकाश को न देख सकें, इसके शब्द को न सुन सकें। अधिक ऐसे ही हैं जो इसके उपदेशों को सुन कर असत्य मार्ग से हट जाते हैं।" (द्वि० सं० पृ० १६१)

विद्वान लेखक ने उसी स्थान पर पापियों पर अन्तःकरण के प्रभाव का विवेचन करते हुए लिखा है:—

"हे अंतःकरण की ज्योति का तिरस्कार करने वालो ! हे इस संसार को पाप पूरित मानने वालो ! क्या तुमने कभी पापियों के निर्बल से निर्बल और दुष्ट से दुष्ट मनुष्य की मनोगति का निरीक्षण किया है ? यदि किया है तो सच बताना कि क्या अंतःकरण उनको कभी पाप से नहीं बचाता और क्या वह इतने ही पापी होते यदि उनके पास अंतःकरण रूपी अस्त्र न होता ? लोग भूल करते हैं जो समझते हैं कि संसार में पाप का राज्य है। पापी से पापी मनुष्य भी अपने अधिक समय को पाप में नहीं लगाता। जिस पुरुष के दस प्रति शतक काम भी पापमय होने लगते हैं उसके प्रति समस्त संसार की घृणा हो जाती है और उसका जीवित रहना दुस्तर हो जाता है। क्यों ? इसलिए कि सृष्टि बनाई ही इसलिए गई है कि धर्म का प्रचार हो। जो लोग बाग के चारों ओर कांटे की बाढ़ देखकर यह समझ लेते हैं कि यह बाग कांटों से ही भरा है वह कितनी भूल करते हैं ?

अरे मूर्ख प्राणी ! यदि इस संसार में कांटे हैं भी तो वह तुझे पाप से बचाने के लिए हैं। पाप में रत करने के लिए नहीं। व्यक्ति या समाज के हृदय में पाप से इतनी घृणा क्यों है ? क्यों एक पापी को प्रबल होते हुए देखकर भी हम विद्रोह करने लगते हैं ? इसीलिए कि संसार सदाचार का इच्छुक है। सदाचार पर ही उसकी स्थिति है। सदाचार ही सृष्टि-रचना का उद्देश्य है। संसार के समस्त नियम हमको सदाचार की ओर ले जा रहे हैं। यदि संसार में स्वतंत्रता है तो वह इसीलिए कि लोग धर्म के मूल्य को पहचान सकें। यदि कुछ पाप है भी तो इसलिए कि उससे तुलना करके पुण्य की ज्योति का तत्व भली भाँति प्रकाशित हो सके।" (पृ० १९१, १९२)

सत्याचरण में सरलता, निष्कपटता भी समाविष्ट होती है। सरलता में कोई छलकपट, दंभ, पाखंड वा अधमता नहीं होती, वह कृत्रिमता-विहीन होती है। सरल आचरण निर्मल होता है, उसमें छल-छद्म कहीं नहीं होता, वह पवित्र भावना से प्रेरित होता है।

श्रेष्ठ आचरण में सच्चाई भी ओतप्रोत होनी चाहिये। बहुत सी वस्तुएँ अंधेरे में सुन्दर दिखाई पड़ती हैं किन्तु प्रकाश में आने पर उनके छिद्र-दोष प्रकट हो जाते हैं, उनकी कृत्रिम भड़क जाती रहती है। सच्चे आचरण के प्रकाश में निर्दूषणता ही नहीं दिखाई पड़ती, बल्कि वह मणियों की गुफा की तरह प्रकाश में जगमग हो उठता है। प्रकाश से जिस प्रकार मणियों की

आभा विकीर्ण होती है, उसी प्रकार ज्ञान की ज्योति में आचरण रूप मणि की नई नई आभा प्रस्फुटित हो उठती है।

इन सब बातों को प्राप्त करने के लिए केवल भौतिक बुद्धि से ही काम नहीं चल सकता, उसके लिए पारमार्थिक बुद्धि भी होनी चाहिए। आस्तिकता और भगवद्भक्ति की सदाचार में नितान्त आवश्यकता होती है। मनुष्य के हृदय के भगवान में अनुरक्त हो जाने पर उसके आचरण के भ्रष्ट होने की शंका नहीं रहती।

बा० गंगा प्रसाद जी उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'आस्तिकवाद' में आस्तिकवाद की उपयोगिता पर लिखा है:—

'वस्तुतः ईश्वर के अस्तित्व का प्रश्न केवल मस्तिष्क-संबन्धी व्यायाम नहीं है। यह प्रश्न मनुष्य जाति की उन्नति के मार्ग में मृत्यु और जीवन का प्रश्न है, इसलिए उपनिषत कहती है:—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति ततेपदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥

कि जिसके पद का गायन वेद करते हैं, जिसकी इच्छा से ही लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वही ईश्वर है। यथार्थ में जिसका ईश्वर पर विश्वास नहीं है, जिसके सम्मुख ईश्वर-प्राप्ति जैसा उच्च आदर्श नहीं है, वह ब्रह्मचर्य जैसा कठिन तपश्चर्या क्यों करेगा? उसके लिए तो ललनालिङ्गन ही समस्त जीव का उद्देश्य है, यही इसके पुरुषार्थ की इति श्री है।" (पृष्ठ ३३९)

"जो लोग सदाचार के भवन को ईश्वर-अस्तित्व की नींव पर बनाना नहीं चाहते, अथवा जो इस नींव को खोद डालना चाहते हैं वह सदाचार को एक प्रकार से नींव रहित बना रहे हैं। वह मनुष्य जाति के मनोविज्ञान से अनभिज्ञ हैं। वह नहीं देखते कि ईश्वर-विश्वास ने सदाचार को कहां तक दृढ़ किया है।" (पृ० ३४१)

"वस्तुतः ईश्वर-प्रेम के अतिरिक्त मनुष्य को सदाचारी रखने के लिए और किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं, सदाचार के जो कुछ नियम बनाए जा सकते हैं वह सब ईश्वर-प्रेम के अन्तर्गत आ जाते हैं। यदि मिल या लाभ-वादियों के कथनानुसार हम इस बात को मान लें कि "अधिक से अधिक मनुष्यों का अधिक से अधिक सुख" सम्पादन करना ही मनुष्य का कर्तव्य है तो भी इसके लिए ईश्वर-प्रेम से अधिक और क्या साधन हो सकता है ? जिसको मुझ से प्रेम है उसको मेरे बच्चों से अवश्य प्रेम होगा। इसी दृष्टान्त के अनुकूल जिसको ईश्वर से प्रेम है उसको मनुष्य मात्र से अवश्य प्रेम होगा, क्योंकि वह जानता है कि समस्त प्राणी उसी परम पिता के पुत्र हैं।" (पृ० ३४६)

"ईश्वर-विश्वास मनुष्य को उस समय सत्य मार्ग पर दृढ़ होने के लिए बल देता है जब संसार के अनेक प्रलोभन तथा अनेक भय उसे झूठ बोलने के लिए प्रेरणा करते हैं। ईश्वर-विश्वासी मनुष्य फांसी पाने से भी नहीं डरता और हर्ष-

पूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करता है, क्योंकि वह समझता है कि मृत्यु के समय भी ईश्वर का करुणामय हाथ उसके ऊपर है। ईश्वर-विश्वास मनुष्य को सच्चा मार्ग सिखाता है। ईश्वर-विश्वास मनुष्य को दम, शम तथा इन्द्रिय-निग्रह के अभ्यास में सहायता देता है। ईश्वर-विश्वास उसको पापाचरण से रोकता है। वस्तुतः यदि विचार किया जाय तो ईश्वर-विश्वास एक ऐसा पारस मणि है जिसके छूने से ही मनुष्य का जीवन कुछ का कुछ बन जाता है।" (पृ० ३४८)

पहले यह बात कही गई है कि आचरण की महत्ता मुख्यतया दो बातों में होती है। एक तो वह आंतरिक मनुष्य की अभिव्यक्ति होता है, दूसरे वह दूसरों के सम्मुख उदाहरण होता है। हम प्रभाव की दृष्टि से अपना वाह्य आचरण सुन्दर बनाते हैं। हम अपने विरुद्ध आन्तरिक भावों के लिए उत्तरदायी नहीं होते, बल्कि अपने व्यवहारों, कार्यों से उत्पन्न होने वाले परिणामों, प्रभावों के लिए भी कुछ अंश में उत्तरदायी होते हैं। हमारे चारों ओर अन्य मानव हैं, उनकी चिन्ता बिल्कुल भुला देने के लिए हमारी उदार वृत्ति नहीं कह सकती। हम जो कार्य करते हैं, हमसे दुर्बल, अज्ञानी अन्य प्राणी उन्हीं का अनुकरण करने से अपने को रोक नहीं सकते, हम अपने क्रिया-कलाप की स्वच्छन्दता से इस प्रकार दूसरों के लिए मार्ग में कांटे बो सकते हैं जो हमारे द्विविधा वा सन्देह को अपने भ्रान्त व्यवहारों के अनुमोदन में उद्धृत कर सकते हैं।

हम केवल अपने में दुर्भावना का अभाव वता कर ही अपने कार्य के अनिवार्य परिणामों के उत्तरदायित्व से दूर नहीं हो सकते। मान लीजिए रेलवे का कोई इञ्जीनियर अपने उत्तरदायित्व से क्षण भर के लिए अपनी दृष्टि हटा लेता है। कोई रेल की पटरी उखड़ी हुई हो वा रेल की पटरी पर कोई रुकावट पैदा करने वाली भारी चीज़ पड़ी हो वा कोई पुल टूट गया हो तो तनिक देर की ही असावधानी से रेल के सभी डब्बे मृत्यु के मुख में पहुँच सकते हैं। क्या इंजीनियर यह कह कर अपने उत्तर-दायित्व से बच सकता है कि उसकी भावना मनुष्यों का प्राणान्त होने देने की नहीं थी। ऐसा कभी नहीं हो सकता। भगवान हमें स्मरण दिलाते हैं कि हमारा जीवन संसार के अन्य प्राणियों के साथ रहस्यमय रूप से आबद्ध है, इस कारण हमें अवश्य ही ध्यान रखना चाहिए कि हमारे उदाहरण का क्या परिणाम निकलता है, और प्रत्येक प्रकार के दुष्कर्म से वंचित रहना चाहिए। हमारा हृदय शुद्ध होने पर भी क्या हम अपने आचार के प्रभाव की सुधि भूल सकते हैं?

भगवान मनु ने कहा है कि हमें अपने पूर्वजों का अनुकरण करना चाहिए; उसमें कुछ दोष नहीं आ सकता। यथा:—

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यते॥

"जिस मार्ग से बापदादा चले हों, उसी अच्छे मार्ग से

आप भी चलें, उस मार्ग से चलने पर दोषभागी होना नहीं पड़ता ।"

गीता में भी कहा है:—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

"श्रेष्ट पुरुष जो जो करता है, वैसा ही वैसा दूसरे लोग भी करते हैं, वह जो कुछ प्रमाण कर देता है लोग उसी के अनुसार वर्तते हैं ।"

इस प्रकार हमारे श्रेष्ट आचार का संसार के इतर मानवों पर अनवरत प्रभाव पड़ता है, इस बात का ध्यान सतत रख कर हम अपने आचरण को ऊंचा उठाने में ही सदा प्रवृत्त हो सकते हैं, उसे कभी नीचे नहीं गिरने दे सकते ।

हमें आचरण का यह प्रभाव देख कर सदा भगवान के अनुरूप ही चलकर उसे पावन बनाने का प्रयत्न करना चाहिए । भगवान की भक्ति-भावना से हम अनेक भोग विलासों की आसक्ति से दूर हो सकते हैं । हमें उदाहरण का प्रभाव भी कभी न भूलना चाहिए। हमारा चरित्र तो भगवान के ही अनुरूप बनाया जा सकता है, चरित्र का ज्ञाता केवल भगवान ही है किन्तु हमारा उदाहरण तो मनुष्य के अनुरूप होना चाहिये । संसार को यह अधिकार है कि वह सज्जन और दुर्जन में विभेद करे । धर्म-निष्ठ, पुनीत आचरण के सज्जन व्यक्तियों की श्रेणी में हमें अपनी गिनती कराने का प्रयत्न करना चाहिए ।

हम लोग बातों को विशेष महत्व देते हैं किन्तु आचार को यथेष्ट गौरव नहीं प्रदान करते । मनुष्य अपने पुनीत कार्यों से ही भगवान का गौरव बढ़ाता है। इस से आभा स्फुटित होती है जो भगवान को गौरवान्वित करती है। अपने विचार, अनुराग, वृत्ति, और वाणी का संयम करना हमारा व्यर्थ है यदि हमारा आचार असावधानी-पूर्ण हो।

७—शील का नियमन

आचार के लिए शील उसी प्रकार है जिस प्रकार स्वर्ण के लिए कान्ति और पुष्प के लि ए सुरभि जो वर्णन करने में तो दुष्कर होता है किन्तु अनुभव करने में सुगम। श्रीमद्भागवत में साधु का जो लक्षण दिया है वह शील का कुछ आभास देता है। यथा:—

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः सा धवः साधुभूषणाः॥

"सहनशील, दयालु, मित्र, शत्रुहीन, शान्त पुण्यात्मा साधु श्रेष्ठ भाव वाले सन्त होते हैं।"

गीता में भी भक्त योगी का गुण इसी प्रकोर का वर्णित है:—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥

"भक्तयोगी सब प्राणियों से बैर न रखने वाला, मित्रता व दया भाव पूर्ण, ममता से रहित तथा अहंकार से रहित, सुख-दुःख की प्राप्ति में सम और क्षमावान रहता है।"

सज्जन पुरुष की प्रशंसा निम्न श्लोक में कितनी सुन्दर की गई है :—

वदनं प्रसाद सदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः।
करणं परोपकरणं येषां केषां ते न वन्द्या॥

"जिनका मुख सदा प्रफुल्ल रहता है, जिनका हृदय दयार्द्र रहता है, जिनके मुख से अमृत तुल्य वाणी टपकती है, जो नित्य परोपकार किया करते हैं, ऐसे मनुष्य किनको वन्द्य नहीं हैं ?"

महर्षि वाल्मीकि ने सज्जन की सहिष्णु, सर्वप्रिय वृत्ति का सुन्दर वर्णन किया है:—

न द्वेष्टा विद्यते तस्य स तु द्वेष्टि न कंचन।
स तु सर्वेषु भूतेषु पितामह इवापरः॥

"उसका कोई बैरी नहीं है और न वह किसी से बैर करता है, वह सर्व प्राणियों में पितामह की तरह श्रेष्ठ है।"

गोस्वामी तुलसीदास ने भक्तों का चरित्र वर्णन कर शील का सुन्दर आदर्श बतलाया है। रामायण में उन्होंने लिखा है:—

कोमल चित दीनन्ह पर दाया,
मन वच क्रम मम भगति अमाया।
सबहिं मानप्रद आपु अमानी,
भरत प्रान सम मम तें प्रानी॥

सन्त जनों के हृदय का रूप चित्रित कर गोस्वामी जी ने हृदय की विशालता की सीमा ही पार कर दी है:—

सन्त हृदय नवनीत समाना, कहा कविन्ह पै कहइ न जाना।
निज परिताप द्रवइ नवनीता, पर दुख द्रवहिं सुसंत पुनीता॥

गोस्वामी जी कहते हैं कि "सन्तों का हृदय मक्खन की तरह होता है, इस प्रकार की उपमा कवियों ने दी है, किन्तु उन्हें उपमा

देने नहीं आई, क्योंकि मक्खन तो अपने उत्ताप (गर्मी) से पिघलता है, किन्तु सज्जनों का हृदय दूसरों के दुख से द्रवित हो जाता है।"

श्री मद्भागवत और गीता के उद्धृत श्लोकों में जिन गुणों की गणना की गई है उनकी विशेष व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं। हमारे शील में ऐसे ही गुणों की गिनती है। सहनशीलता सब मनुष्यों में एकता की भावना उत्पन्न करने का मार्ग बताती है; करुणा सब मानवों में सहानुभूति, दया का भाव फैला कर सब का प्रेमपात्र बनने का भाव उत्पन्न करती है। मित्रता बन्धुवत् सब प्राणियों को रहने का आदेश देती है और शत्रुता तथा द्वेष के अभाव की वृत्ति बंधु-भाव के टूटने की आशंका सर्वथा दूर कर देती है। निरहंकार वा विनम्रता हमारे चरित्र की बहुत ही सुन्दर वृत्ति है जिससे हमारा आचार अत्यंत उज्ज्वल हो जाता है। इन शीलों का रूप संसारी पन्नियों की तरह नहीं है जो चमक दमक तो रखती हों किन्तु उनमें गंभीरता वा वज़न न हो, बल्कि खरे सिक्के की भाँति दोनों ओर मुद्रित हैं जिन पर एक ओर निष्कपट प्रेम तथा दूसरी ओर निर्मल विनम्रता की छाप है।

ऐसी सहनशक्ति जिस में अतिकाल में भी त्रुटि न हो सकती हो, ऐसा प्रेम जिसमें स्पर्द्धा की झलक तक न हो, दंभ का लवलेश न हो, जो तनिक भी गर्वीला न हो, मिथ्याहंकार का जिस पर प्रभाव न हो, जो कभी अपनी सुविधा की खोज नहीं

करता और न कभी चिड़चिड़ाहट प्रदर्शित करता है वा दूसरे की भावना में सन्देह करता है तथा सत्य की विजय पर ही आह्लाद प्रगट करना तथा दूसरों की भूल वा हानि पर तनिक भी प्रसन्नता न प्रकट करना, ये सभी शील के उत्तम आदर्श हैं।

बहुत से मनुष्य अन्य विचारों से उच्च होने पर भी शील की दृष्टि से उत्कृष्ट नहीं होते, हमें व्यक्तित्व का वास्तविक आकर्षण अनुभव करने के लिए बाह्य दोषों और कभी कभी असभ्यता के अन्दर दृष्टि डालना सीखना चाहिए। एक विद्वान का कथन है कि 'प्रचुर बुद्धि और कल्पना के साथ ही साथ अत्यधिक नैतिक अधमता भी रह सकती है।" हृदय की विशालता स्वयं ही सार्वभौम सद्गुण है, किन्तु हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि कर्मनिष्ठा और वीरता के साथ ही साथ बहुत अधिक घृणा का भी हृदय में वास हो सकता है।

शीलों के परिष्कार से आचार की पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। विवेक, सरलता, सच्चाई, सहानुभूति और विनम्रता आदि गुणों युक्त पुरुष का आचार ऐसा हो जाता है कि उसके शत्रु भी उसमें कोई दोष नहीं ढूंढ पाते। मनुष्य पर स्थायी प्रभाव जमाने वाले शील होते हैं। शीलवान व्यक्तियों के ऐसे उदाहरण अनेक मिल सकते हैं जिनके सम्पर्क में आने, समीप उठने बैठने में लोग बड़े आह्लाद का अनुभव करते हैं। आधुनिक विज्ञान द्वारा पता चला है कि प्रत्येक व्यक्ति के चारों १० फीट के घेरे

में उसका प्रभाव-क्षेत्र होता है जिसमें उसके व्यक्तित्व का सूक्ष्म चुम्बकत्व सा प्रभाव रहता है। इस व्यक्तिगत प्रभावक्षेत्र का सूक्ष्म यंत्रों से अनुभव भी करने में सफलता मिलती है। इस अन्वेषण से कितनी रहस्यमय बातें प्रकट होती हैं।

बहुत से व्यक्ति जो निर्धनता और तुच्छ स्थान से ऊँचे उठ कर धन और मान प्राप्त करते हैं उनकी उन्नति का मूल विनम्रता में पाया जा सकता है। नम्रता सदा दूसरे में भी नम्रता पुनरुत्पन्न करती है और सदा विनम्र रहने वाला व्यक्ति जितना देगा उतना उसे वापस अवश्य ही मिलेगा। एक विद्वान का कहना है कि "कोई भी व्यक्ति दूसरों के प्रति प्रतिष्ठा का व्यवहार करने से न चूकेगा जो स्वयं अपने प्रति प्रतिष्ठा का कुछ मूल्य समझता है।"

मनु भगवान ने लिखा है:—

बहवोऽविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः।
वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे॥

"बहुतेरे राजा अविनयी होने के कारण धन-धान्य, दल-बल सहित नष्ट हो गए और कितने ही पुरुषों ने बनबासी हो कर भी विनय से राज्य पा लिया।"

वेनो विनष्टोऽविनयान्नहुषश्चैव पार्थिवः।
सुदाः पैजवनश्चैव सुमुखो निमिरेव च॥
पृथुस्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मनुरेव च।
कुबेरश्च धनैश्वर्यं ब्राह्मण्य चैव गाधिजः॥

"वेन, राजा नहुष, पिजवन का पुत्र सुदा, सुमुख और निमि, ये सब अविनय से नष्ट हो गए। पृथु और मनु ने विनय से राज्य, कुबेर ने धनाधिपत्य और विश्वामित्र ने ब्राह्मणत्व पाया।"

मधुर और शान्त व्यवहार से कट्टर से कट्टर विरोधियों को अपने पक्ष में करने के कितने दृष्टान्त मिल सकते हैं। जातकों में तो ऐसी कहानियां भरी पड़ी हैं। अङ्गुलिमाल डाकू की कहानी इस प्रकार की प्रसिद्ध कहानी है। एक समय श्रावस्ती के जेतवन में भगवान गौतम बुद्ध निवास कर रहे थे। उसके समीप ही प्रसेनजित के राज में डाकू अंगुलिमाल ने बड़ा उत्पात मचा रक्खा था। वह बड़ा ही भयानक रक्त-पिपासु डाकू था, सब लोग उससे आतंकित हो उठे थे। ऐसे दुर्दान्त डाकू को वशीभूत करने के लिए भगवान बुद्ध अकेले निहत्थे निकल पड़े। अंगुलिमाल के भीषण वासस्थान की ओर जिसने ही बुद्ध को अकेले जाते हुए देखा उसीने उन्हें न जाने के लिए बड़ी अनुनय-विनय की और त्रस्त किया कि बड़े बड़े शस्त्रधारी भी अंगुलिमाल के हाथ से बचकर नहीं आते, इस-लिए भगवान न जायँ। किन्तु भगवान बुद्ध ने किसी की कोई बात नहीं सुनी और अंगुलिमाल के निवास की ओर भीषण जंगल में चलते ही गए। भगवान बुद्ध को अङ्गुलिमाल ने अपने निवास की ओर आते देखा और एक निरस्त्र, दुबले पतले व्यक्ति को उस ओर आने का साहस करते देख वह क्रोधोन्मत्त हो उठा।

तीक्ष्ण, घातक तीरों को धनुष पर तान कर वह भगवान बुद्ध की ओर बढ़ने लगा। अङ्गुलिमाल बराबर भगवान बुद्ध की ओर बढ़ता ही जाता, फिर भी वह समीप पहुँचता नहीं मालूम पड़ता था, कुछ ऐसी ही माया हो गई थी। इस पर उसने भगवान बुद्धसे डपटकर कहा कि "संन्यासी, खड़ा रह"। बुद्धने कहा "मैं तो खड़ा हूँ अंगुलिमाल, और तू चल रहा है।" अंगुलिमाल समीप न पहुँच सकने का कारण न समझ सका। उसने विस्मय से फिर भगवान बुद्ध को खड़े होने के लिए कहा। इस पर भगवान ने उत्तर दिया कि 'मैं खड़ा हूं अंगुलिमाल, किन्तु तेरी आंखें हिंसा, लोभ, पाप, असत्य से भरी हुई हैं, इसलिए तुझे सच्ची बात झूठी मालूम होती है।" अंगुलिमाल ने भगवान बुद्ध के आगे नतमस्तक होकर धनुष बाण फेंक दिया। भगवान ने इतने विकट डाकू को सहज ही परास्त कर दिया। अंगुलिमाल भगवान बुद्ध का अनुवर्ती होकर भिक्षु बन गया और आश्रम में सम्मिलित हो गया। इसी समय जनता के त्राहि त्राहि करने से प्रसेनजित ने पांच सौ घुड़सवारों को लेकर अंगुलिमाल को परास्त करने के लिए यात्रा प्रारम्भ की और भगवान बुद्ध के निवास के पास ही डेरा डाला। भगवान बुद्ध को प्रसेनजित से यात्रा के उद्देश्य का पता चला तो उन्होंने अंगुलिमाल के भिक्षु बन जाने की सूचना दी। भिक्षु अंगुलिमाल की स्तुति कर प्रसेनजित साज-बाज सहित राजधानी को लौट गए। एक दिन नगर में भिक्षा-वृत्ति के लिए घूमते हुए अंगुलिमाल के सिर पर कहीं

से किसी के फेंकने से कंकड़ आ गिरा और रक्त बहने लगा। रक्त से लथपथ अंगुलिमाल को भगवान बुद्ध ने देखा तो उससे कहा कि "भिक्षु, आज तुम्हारा प्रायश्चित्त पूरा हुआ।" अंगुलिमाल की प्रफुल्लता का ठिकाना न रहा।

शीलों को किस प्रकार ग्रहण किया जा सकता है, इसका उत्तर हम यही दे सकते हैं कि इतनी सूक्ष्म बात को ग्रहण करना एक प्रकार से कठिन है, फिर भी अन्य उपायों की अपेक्षा अधिक लाभदायक दो तीन मार्ग हैं जिनसे सर्वोत्तम परिणाम निकल सकते हैं।

पहला—आचार में प्रतिहिंसात्मक वा दूसरे को आघात वा चोट पहुंचाने वाली जो बात हो उसका मनन और अभ्यास-पूर्वक दमन करना चाहिए। यह पहला साधन, यद्यपि नकारात्मक है, यह है कि हम अपने आस-पास के व्यक्तियों के सुख और सुविधाओं का अध्ययन करें और स्वेच्छया तथा अभ्यास पूर्वक उन कार्यों से अपने को दूर करें जो दूसरों को दुख वा चोट पहुँचाने वाली हों, और हमारी मंडली में दूसरों को असुविधा का अनुभव करने वाली हों। इस वृत्ति के शमन और प्रतिकार में कम उद्योग वा समय की आवश्यकता नहीं है, किन्तु प्रत्येक सच्चे उद्योग का महान परिणाम निकलेगा और अन्त में हमें यह देखकर विस्मय होगा कि बहुत सी बातें कितना आघात पहुँचाने वाली रही हैं जिन पर हमारा ध्यान नहीं जाता

था और जो हमारे दृढ़ता पूर्वक प्रतिकार करना प्रारम्भ करने के समय स्वयं हम लोगों के लिए आघातक सिद्ध होगी।

दूसरा--दूसरों को सुख प्रदान करने के क्रियात्मक स्वभाव की साधना, जिसके लिए केवल आघात से ही दूर न रहना हो, बल्कि उल्लास, आनन्द, सहायता और आशीर्वाद प्रदान किया जाय। हम बहुधा कैसे अनावश्यक रूप से स्पष्टवादी होते हैं; हम अपनी रुग्णता, दुर्बलता, दुर्भाग्य, हानियों, यातनाओं की—दूसरों से केवल बात करने के ख्याल से चर्चा करते हैं। हमें यह ध्यान नहीं रहता कि ऐसा करने में स्वयं कोई आश्वासन वा सहायता प्राप्त किए विना ही उन पर विषाद के बादल उमड़ा रहे हैं। हमारा बहुत कुछ आलाप और आचार भोग-विलासासक्ति का ही होता है, और इसके लिए दूसरों की चिन्ता कुछ नहीं रहती। हम अपने को दुख पहुँचाने वाली बात को इतना बढ़ाते हैं कि दूसरे दुखित हो जाते हैं, उधर साथ ही दूसरी ओर धन्यवाद देने और आनन्द मनाने का जो अवसर होता है उसको व्यक्त करने का भी हम कभी ध्यान नहीं रखते। हम अनावश्यक रूप से अपनी कठिनाइयों का प्रकाश न कर दूसरों को व्यर्थ ही कष्ट अनुभव करने के लिए विवश करते हैं। रहीम का यह दोहा ऐसे अवसरों के लिए अप्रासंगिक नहीं है:—

रहिमन निज मन की व्यथा, मन ही राखो गोय।
सुन अठिलैहें लोग सब, बाटि न लैहें कोय॥

इसमें केवल इतना परिवर्द्धन कर लेना चाहिए कि हमारी व्यथा सुन कर दूसरे कुढ़ते ही नहीं, कष्ट का भी अनुभव करते हैं। यदि हम अपने क्षणिक वा दीर्घ-व्यापी वा स्थायी कष्टों, व्यथाओं के अवसर पर भी इस भावना को मन में रख कर अपनी वेदना अपने हृदय में ही दबाए रखने का अभ्यास करें तो हमारी वेदनाएँ बहुत कुछ हल्की हो सकती हैं और उनके द्वारा दूसरे कष्ट का अनुभव करने से भी बच सकते हैं।

भगवान बुद्ध का आदेश भी यही है। उनका तो कथन है कि मुंह बन्द रखने से मनुष्य निर्वाण पा सकता है। धम्मपद में कहा है:—

> स चे नेरेसि अत्तानं कंसो उपहतो यथा।
> एस पत्तोसि निब्बाणं सारम्भो ते न विज्जति॥

"टूटा कांसा जैसे निश्शब्द रहता है (वैसे) यदि तुम अपने को (निःशब्द रक्खो) तो तुमने निर्वाण को पा लिया, तुम्हारे लिए कलह (हिंसा) नहीं रहती।"

अपने आस पास के लोगों से सदा यह पूछते रहना कि कौन सी बातें उनके अनुकूल हैं किन बातों मे उन्हें सुविधा अनुभव हो सकती है, किन बातों से उनके लाभ और सुख की वृद्धि होगी किन बातों से उनके कल्याण की वृद्धि होने की संभावना हो सकती है, इन बातों का स्वभाव बनाना अपने दिव्य शील की साधना के अध्ययन का क्रियात्मक मार्ग है। और जब हम यह देखें कि हँसमुख मुद्रा से कितनी आनंद-किरणें विकीर्ण होती

हैं, निस्स्वार्थ सेवा से कितने सुख का प्रसार किया जा सकता है, तो ऐसा जीवन स्वयं अपने लिए बड़ा सुन्दर आकर्षण बन सकता है। जब मनुष्य विपत्ति में हों वा अप्रत्याशित आपदाओं का सामना कर रहे हों तो उस समय उनको दयार्द्र मुख-मुद्रा-सहानुभूति-सूचक शब्द, वा कार्य से सहायता करना कल्याण भावना प्रदर्शित करने के गौण रूप हैं।

किन्तु हमारे शीलों के परिष्कार में कोई भी बात इतनी सहायक नहीं हो सकती जितनी आस्तिकता में विश्वास तथा प्रभु के रूप का विनती पूर्वक ध्यान करना।

महात्मा नारायण स्वामी ने, 'मनुष्य को आस्तिक क्यों बनना चाहिए?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए 'आस्तिकवाद' की भूमिका में लिखा है:—

"इसका उत्तर यह है कि मनुष्य में सद्गुणों की वृद्धि का इससे बढ़ कर कोई मार्ग ही नहीं है। उद्देश्य की पूर्ति के लिए आदर्श की ज़रूरत होती है। यह जगत का सार्वत्रिक नियम है। अच्छे से अच्छे पुरुष को भी यदि हम आदर्श रूप में रक्खेंगे तो भी उसमें अच्छे गुणों के साथ कुछ न कुछ कमियां अवश्य मिलेंगी, परन्तु ईश्वर का आदर्श ही एक ऐसा आदर्श है जिसमें कमी और त्रुटियों की गुंजाइश ही नहीं है। अच्छे मनुष्य आंशिक आदर्श का काम तो दे सकते हैं परन्तु पूर्ण आदर्श ईश्वर के सिवा कहीं नहीं मिल सकता।"

मनुष्य में आस्तिकता किस प्रकार उत्पन्न हो सकती है, इसके विषय में 'आस्तिकवाद' के लेखक ने लिखा है:—

"आस्तिकता 'छू मन्तर' या जादू की लकड़ी से उत्पन्न नहीं हो जाती। जिस प्रकार शनैः शनैः कक्षा-क्रम से पढ़ते पढ़ते ही मनुष्य को गणित भूगोल, तथा अन्य विद्याएँ आती हैं उसी प्रकार ईश्वर-विश्वास भी क्रमश; अभ्यास तथा अध्ययन से आता है। इसके लिए गुरु चाहिए, परिस्थिति चाहिए, और शिष्य का शुद्ध आत्मा चाहिए। ईश्वर-विश्वास आत्मा की उच्च अवस्था का नाम है। हम प्रायः लोगों को ईश्वर-विश्वास की भिन्न भिन्न श्रेणियों में पाते हैं। उनमें कुछ कपटी भी हैं जो चोर की गाउन (चोले) पहन कर ग्रेजुएट (स्नातक) वन गए हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जिनमें अभ्यास की कमी है और सामाजिक परिस्थिति का वह सामना नहीं कर सकते। कुछ ऐसे भी हैं जो सच्चे गुरु और सच्चे सिद्धान्तों के अभाव की दशा में कुछ रस्मों या पाखण्डों को ही आस्तिकता समझे हुए हैं। वह पत्थरों को हीरा समझे हुए हैं अतः पत्थर का ही मूल्य उनके हाथ लगता है। हीरे का नहीं, परन्तु आस्तिकता की उपयोगिता में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। वस्तुतः उन साधारण आस्तिकों के जीवन भी जिनमें हमें इतनी त्रुटियां मिलती हैं अत्यन्त नीच होते यदि उनको आस्तिकता तथा ईश्वर-विश्वास का कुछ भी प्रकाश न मिलता।"

भगवान की भक्ति का फल ही अपार है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में स्वयं कहा है:—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छांतिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

"मेरी भक्ति करने वाला तुरन्त धर्मात्मा हो जाता है और नित्य शान्ति को पाता है, हे अर्जुनन, तू निश्चय जान कि मेरा भक्त नष्ट नहीं होता।"

भगवान का रूप निदर्शन कराते हुए गीता में कहा है कि मनुष्य के भावों की उत्पत्ति भगवान से ही होती है:—

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥

"अहिंसा, समता सन्तोष, तप दान, कीर्ति अपकीर्त्ति प्राणियों के ये भिन्न भिन्न भाव मुझ से ही होते हैं।"

अतएव शील की साधना के लिए भगवान की भक्ति ही मनुष्य की सहायक हो सकती है। श्री मद्भागवत में कहा है कि सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः अर्थात् "सब सिद्धियों का कारण मैं ही हूं," अतएव शील की प्राप्ति के लिए अन्यत्र कहां जाया जाय।

धम्मपद में भगवान बुद्ध का वचन है कि:—

चन्दनं तगरं वापि उप्पलं अथ वस्सिकी।
एतेसं गन्धजातानं सीलगंधो अनुत्तरो॥

"चन्दन या तगर, कमल या जुही इन सभी (की) सुगंधों से शील की सुगंध उत्तम है।"

अप्पमत्तो अयं गन्धो या'यं तगरचंदनी ।
यो च सीलवतं गन्धो वाति देवेसु उत्तमो ॥

"तगर और चन्दन की जो यह गंध फैलती है वह अल्प मात्र है और जो यह शीलवानों की गंध है (वह) उत्तम (गंध) देवताओं में फैली है।"

धम्मपद में दुःशील और सुशील व्यक्ति की तुलना में कहा गया है:—

यो च वस्ससतं जीवे दुस्सीलो असमाहितो ।
एकाहं जीवितं सेय्यो सीलवन्तस्स झायिनो ॥

"दुःशील और एकाग्रचित्तता-रहित (असमाहित) के सौ वष के जीने से भी शीलवन्त और ध्यानी का एक दिन का जीवन श्रेष्ठ है।"

दुःशील के लिए भगवान बुद्ध का जो आदेश है वह स्मरण रखने योग्य है:—

सेय्यो अयोगुलो भुत्तो तत्तो अग्गिसिखूपमो ।
यञ्चे भुञ्जेय्य दुस्सीलो रट्ठपिण्डं असञ्ञतो ॥
(श्रेयान् अयोगोलो भुक्तस्तप्तोऽग्निशिखोपमः ।
यच्चेद् भुञ्जीत दुःशीलो राष्ट्रपिण्डं असंयतः ॥

"असंयमी दुःशील को राष्ट्र का पिंड (देश का अन्न) खाने से अग्निशिखा के समान तप्त लोहे का गोला खाना उत्तम है ॥"

जो शील मनुष्य के व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने वा गिराने वाली एक मात्र कुंजी है, उसकी महिमा का हम क्या बखान कर सकते हैं, भर्तृहरि ने इसकी स्तुति की है:—

वह्निस्तस्य जलायते जलनिधिः कुल्यायते तत्क्षणात् ।
मेरुः स्वल्पशिलायते मृगपतिः सद्यः कुरङ्गायते ।।
व्यालो माल्यगुणायते विषरसः पीयूषवर्षायते ।
यस्यांगेऽखिललोकवल्लभतरं शीलं समुन्मीलति ।।

"जिस पुरुष में शील गुण रहता है उसको अग्नि जल बन जाता है, और समुद्र छोटी नदी बन जाता है, मेरु पहाड़ उसको धूल कण हो जाता है, तथा सिंह, हरिण हो जाता है, सांप माला और विष अमृत सा हो जाता है।"

इसीलिए भर्तृहरि ने पुनः कहा है कि:—

वरं श्रृङ्गोत्संगाद्गुरुशिखरिणः क्वापि विषमे ।
पतित्वायं कायः कठिनदृषदंते विगलितः ।।
वरं न्यस्तो हस्तः फणिपतिमुखे तीक्ष्णदशने ।
वरं वह्नौ पादस्तदपि न कृतः शीलविलयः ।।

"ऊँचे पहाड़ के शिखर पर चढ़ कर किसी विषम स्थान से अपने को गिरा कर प्राण दे देना अच्छा है। फिर तेज दांत वाले सांप के मुंह में हाथ डाल देना अच्छा है। या प्रचंड आग में पड़ कर मर जाना अच्छा है, किन्तु अपना शील छोड़ना उचित नहीं।"

किसी कवि ने शील की प्रशंसा में लिखा है कि:—

कहते हैं कवि लोग शील भारी भूषण है ।
शील-हीन नर भूमि-भार निज कुलदूषण है ।।
दान मान यश रूप शूरता साहस बाने ।
मोती सम हैं सगुण शील-माला के दाने ।।

८—अध्ययन का नियमन

आधुनिक समय में पुस्तकें सर्वव्यापी हो गई हैं और यह बात कुछ आंशिक रूप से हम लोगों के लिए विपत्ति हो गई है। उनकी संख्या लाखों, करोड़ों तक पहुँच गई है और उनका भेद-प्रभेद तथा आकर्षण भी उतना ही अधिक है जितनी उनकी संख्या। वे प्रत्येक श्रेणी और युग के लोगों के लिए तैयार होती हैं और अत्यधिक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा लिखी जाती है। वे सस्ते दामों ही प्रत्येक ग्राहक को लभ्य हैं और जो लोग अत्यधिक निर्धन हैं वा पुस्तकें खरीदने की इच्छा नहीं रखते उनको विशाल पुस्तकालयों में मुफ्त पुस्तकें मिल सकती हैं।

हम लोगों के ज़माने में कदाचित कोई भी एक वस्तु इतना प्रभाव नहीं डालती जितना हम लोगों की पढ़ी हुई सामग्री। पुस्तकें स्थायी साथी हैं जिनसे रात दिन परिचय प्राप्त किया जा सकता है। सब से बड़ी फंदे में डालने वाली बात यह है कि इस प्रकार की मित्रता गुप्त रूप से प्राप्त की जा सकती है।

हम पुस्तकालय के प्रति बहुत अधिक आदर का भाव रखते हैं। ये पुस्तकों के विशाल भंडार मृत पुरुषों के यथार्थ समाधि-स्थल हैं। इन झरोखों से वे हम लोगों पर दृष्टि डालते हैं। यहां पर उनके विचार और भावनाएं सुरक्षित हैं वा अवतरित हुई हैं। हमारे पुस्तकालय मानव-जाति के लिए शिक्षणालय हैं।

वे भूतकालीन विचारों के संचय-गृह ही नहीं हैं, प्रत्युत वर्तमान विचारकों के शिक्षक भी हैं। वे गत युगों के मस्तिष्कों की ही लिपि-बद्ध निधि ही सुरक्षित नहीं रखते, बल्कि आधुनिक युग के मस्तिष्कों को भी शिक्षा प्रदान करते हैं।

किसी व्यक्ति द्वारा संगृहीत पुस्तकालय अधिकतर उसका चरित्र प्रतिभासित करता है, क्योंकि यह प्रकट करता है कि उसके साहित्यिक मित्र कौन हैं और उसकी मानसिक और नैतिक प्रवृत्तियां क्या हैं। किन्तु पुस्तकें केवल वर्तमान चरित्र को ही प्रकट नहीं करती, बल्कि भविष्य का चरित्र भी नियमित करती हैं क्योंकि पाठक लेखक के बहुत निकट सम्पर्क में आ जाता है। रस्किन ने लिखा है कि "पुस्तकें लेखकों का सामिप्य प्राप्त कराती हैं, वे सभी पाठकों के साथ समानता का व्यवहार करती हैं।" यदि साधारण जीवन में हम किसी सम्भ्रान्त व्यक्ति के सम्पर्क में आना चाहते हैं तो हमें अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है; हमारे पास उचित रूप से परिचय कराने वाली कोई बात नहीं होती, वा उनके घरेलू जीवन में हमारी पहुँच नहीं हो सकती, वा हम दूरी, सामाजिक पद वा काल द्वारा उनसे पृथक होते हैं। किन्तु उनकी पुस्तकों द्वारा हम लोगों में से प्रत्येक उनसे परिचय प्राप्त कर सकता है और प्रत्येक लेखक के जीवन से अंतरंगता प्राप्त कर सकता है, उसके मस्तिष्क और हृदय से संलाप कर सकता है। इसी प्रकार साहित्यिक जगत में कोई सम्भ्रान्त वर्ग नहीं है। साधारण जीवन में सम्भ्रान्त वर्ग का

समाज चाहे जिस प्रकार का वर्गभेद प्रचलित कर ले, किन्तु साहित्य प्रजा-सत्तात्मक है, इसमें किसी शर्त वा योग्यता की आवश्यकता नहीं, केवल पढ़ने की शक्ति भर होनी चाहिए।

पहला नियम यह है जिससे पढ़ने का नियमन किया जाना चाहिये। मुख्य प्रश्न यह है कि—लेखक का चरित्र कैसा है। यदि पुस्तक की लेखिका या लेखक ऐसा व्यक्ति है जिसके साथ व्यक्तिगत मित्रता त्याज्य होनी चाहिये थी, जिसका व्यक्तिगत भाव शोचनीय माना जाता तो उसकी पुस्तक पढ़ने योग्य नहीं; क्योंकि लेखक की व्यक्तिगत उपस्थिति न्यूनाधिक पुस्तक में परिव्याप्त होती है। इस बात में एक गम्भीर उत्तरदायित्व समाविष्ट है कि पुस्तकें अज्ञात रूप से पाठक का लेखक से सान्निध्य करा देती हैं।

मुद्रण यन्त्र ने प्रत्येक व्यक्ति के लिये पुस्तकों को सुलभ कर दिया है। कुछ शताब्दियों पहले तक बहुत प्रसिद्ध विद्यारसिकों के पास भी सौ पचास पुस्तकें ही हो सकती थीं, आजकल एक एक पुस्तकालय मे लाखों पुस्तकें संगृहीत होती हैं। पाठकों को यह मुद्रण यन्त्र की पवित्रता अवश्य ही रक्षित करना चाहिये जिसके लिये वे यह निश्चय करने में मदद कर सकते हैं कि किन पुस्तकों की खपत अधिक होनी है। क्योंकि ग्राहक ही परिणाम स्वरूप, प्रकाशक होते हैं।

अब दूसरा नियम वाचन का नियमन करने के लिए विचारना है। लेखक के चरित्र के विचार से पुस्तक निर्वाचित करने के पूर्व-

वर्णित सिद्धान्त से दूसरी वात यह उठती है कि हम किन पुस्तकों को उन पुस्तकों के रूप के विचार से निर्वाचित करेंगे। अपने अपने पढ़ने के ऊपर हमें पहला ध्यान यह रखना चाहिए कि पुस्तक नैतिक रूप से विशुद्ध होनी चाहिए। लोगों में एक वहुत अधिक प्रचलित धारणा है कि हमें अत्यधिक और विना कोई भेद किए केवल इस दृष्टि से पढ़ना चाहिये कि संस्कृति के विचार से साहित्य का सार्वभौम परिदर्शन किया जाय, किन्तु वहुत सी पुस्तकें ऐसी होती हैं जिनका पढ़ना कोई गौरव की वात नहीं है, वल्कि लज्जा की वात है। प्रत्येक पढ़ी हुई पुस्तक मस्तिष्क में कुछ तलछट लगभग उसी प्रकार छोड़ जाती है जिस प्रकार कोई नाला प्रायः अपनी तरेटी में लोहे की लाल धूल, गन्धक के हरे बुरादे वा सोने के पीले कण छोड़ जाता है जो उसके रूप और मार्ग को निदर्शित करते हैं। पढ़ने का सवसे वड़ा लाभ वा हानि उसके पीछे छूटे हुए सुवृत्ति या कुवृत्ति के ये तलछट हैं। कोई पुस्तक पढ़ने के समय मस्तिष्क में तलछट की भांति छूटी हुई अधम धारणाओं, घिनौनी तजवीजों और भ्रष्ट स्मृतियों की क्षतिपूर्ति अन्य दिशाओं में प्राप्त सम्भाव्य लाभों से नहीं हो सकती। कुछ लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि थोड़ा थोड़ा ज्ञान सव विषयों का और पूर्ण ज्ञान कुछ विषयों का होना चाहिये। इसे वहुत अतिशयोक्ति मानना चाहिए। वहुत से दूषित विषयों और पुस्तकों से दूर ही रहना अत्यंत आवश्यक है।

इसके बाद हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि ऐसी पुस्तकों का चुनाव हो जो मानसिक रूप से उत्साहवर्द्धक हों; वे ऐसी हों जो पाठक को ज्ञान, उपदेश और स्फूर्ति प्रदान कर सकें। यदि वे इन दोनों बातों में से कुछ नहीं कर सकतीं तो वे निरर्थक हैं। जब पढ़ने का प्रति दिन नियम किया जाता है तो वह एक प्रबल शिक्षाप्रद शक्ति सिद्ध होता है। फ्रांसिस बेकन ने लिखा है कि "इतिहास पुरुषों को विचारवान बनाते हैं, कविता उन्हें विनोदपूर्ण बनाती है, गणित सूक्ष्म बनाता है, प्राकृतिक विज्ञान गंभीर, दर्शन उदात्त और तर्कशास्त्र तथा वक्तृत्व-कला तार्किक बनाते हैं। इस कारण विज्ञ पाठक अपनी सनक का अनुगमन नहीं करते, बल्कि पठन से विवेक द्वारा अपना चरित्र-गठन और विकास करते हैं। जो कोई पुस्तक पढ़ने के बाद कुछ मानसिक लाभ नहीं छोड़ जाती, वह अमर मस्तिष्क द्वारा ध्यान दिए जाने के सर्वथा अयोग्य है।

पठन का सर्वोत्तम लाभ उठाने के लिए हमें लेखक के विचार की अपेक्षा विषय के विचार से पढ़ना चाहिए। और हाथ में कलम लेकर पढ़ना चाहिए जिससे स्मरण रखने योग्य और बाद में उल्लेख योग्य बातों पर निशान लगा लिया जाय। यह अच्छा हो सकता है कि पढ़ने के बाद विस्तृत रूप से लिख लिया जाय जिस से पढ़ने का परिणाम क्रमबद्ध और स्थायी हो जाय।

हम संक्षेप में वह क्रम भी उल्लिखित करने का साहस करते हैं जो पठन में अत्यधिक देखा जाता है। इतिहास और

जीवन चरित जो एक प्रकार से इतिहास ही है मानसिक उपलब्धि के आधार हैं, उसके बाद सरल काव्य है, फिर ओजस्वी भाषण, नाटक के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं, फिर उपन्यास जो यदि विशेष ध्यान से चुने हों, और विशेष कर जिन का आधार ऐतिहासिक हो, इतिहास की घटनाओं को आकर्षक पृष्ठभूमि प्रदान कर सकते हैं। वैज्ञानिक और दार्शनिक ग्रंथ स्वभावतया ही इस क्रम में अन्त में आते हैं क्योंकि उनको हृदयंगम करने के लिए अत्यधिक प्रौढ़ बुद्धि की आवश्यकता होती है।

यह जान लेना उचित है कि सावधानी के साथ संयोजित पठन और अध्ययन पुरुषत्व और स्त्रीत्व के विकास में विस्मयजनक प्रभावोत्पादक हैं। एक विद्वान के सम्मुख एक पिता आया जो अपने निकम्मे पुत्र को किसी योग्य न समझ कर लैटिन भाषा की शिक्षा दिलाना चाहता था। उस विद्वान ने उस व्यक्ति से कहा कि "मैं तुम्हारे पुत्र को लैटिन की शिक्षा इसलिये नहीं देना चाहता कि वह लैटिन भाषा का क्या करेगा, बल्कि इसलिये कि लैटिन भाषा उसके लिये क्या करेगी।" कभी कभी मनन पूर्वक अध्ययन भाषा के उपयोग और शैली के निर्माण में अत्यधिक नियमन सिद्ध होता है। कुछ विद्वानों के ऐसे ग्रन्थ मिलते हैं जिसमें से कहीं का भी कोई अंश, वाक्य या शब्द निकाल दो किन्तु विषय-क्रम में कोई अव्यवस्था नहीं उत्पन्न होती। कुछ रचनायें इतनी परिष्कृत होती हैं कि उनमें कहीं पर एक भी शब्द

के स्थान पर कोई दूसरा अधिक सुन्दर शब्द रखने की गुंजाइश नहीं होती और न किसी शब्द में लगा हुआ कोई विशेषण निरर्थक समझ कर निकाला जा सकता है। परिमार्जित भाषा का वे उदाहरण होती हैं।

बहुत अधिक अध्ययन न करना भी मूल लेखक के विचार से एक उपादेय नियम है। यह विवादास्पद बात हो सकती है। लेखक का यह कथन ठीक है कि अत्यधिक पुस्तकों को सरसरी निगाह से देखने और असावधानी से पढ़ने की अपेक्षा थोड़ी पुस्तकों का ही पढ़ना किन्तु मनन पूर्वक पढ़ना बहुत अधिक अच्छा है - लेखक ने यह मत भी प्रकट किया है कि एक ही दो पुस्तक का मनोयोग पूर्वक अध्ययन करने वाले कितने ही व्यक्ति हो गये हैं जिनके चरित्र को उनके अत्यधिक सीमित वा एक ही पुस्तक के किन्तु मनन पूर्वक अध्ययन ने निर्मित किया है। उसने उदाहरण भी दिया है कि प्रसिद्ध वक्ता सिसरो के ग्रन्थों ने सर विलियम जोन्स को तथा थ्यूसीडाइड्स के इतिहास ने डेमस्थ-नीज़ ऐसे ओजस्वी व्याख्याता को उत्पन्न किया। अन्य कई उदाहरण भी उसने दिये हैं। उसने एक भारतीय का भी उदाहरण दिया है जिसने अरस्तू की एक पुस्तक का ही अध्ययन किया था, उसका अध्ययन केवल इसी पुस्तक तक सीमित था, किन्तु उसने उसका इतना मनन किया था कि किसी इजलास में गवाही के समय वह अपने उत्तरों से मुख्य विषय को टालते जाने में इतना कौशल दिखला सका कि वहाँ का कोई भी वकील उसके

सामने टिक कर उसे परास्त न कर सका। बाद में अरस्तू की एक पुस्तक का अध्ययन करने की बात खुली जो उसके पुस्तकालय में अकेली ही पुस्तक थी। सेमुअल स्माइल्स ने लिखा है कि "अत्यधिक पठन बुद्धि-विषयक व्यसन मात्र है जिसमें उत्तेजना होती है किन्तु कुछ भंडार-वृद्धि नहीं।" हमारे भारतीय आचार्यों का मत इस संबन्ध में पठनीय है।

भगवान बुद्ध का आदेश है कि:—

सहस्समपि चे वाचा अनत्थपदसंहिता।
एकं अत्थपदं सेय्यो य सुत्त्वा उपसम्मति॥

"व्यर्थ के पदों से युक्त सहस्रों काव्यों से भी (वह) सार्थक एक पद श्रेष्ठ है जिसे सुनकर शान्ति होती है।"

सहस्समपि च गाथा अनत्थपदसंहिता।
एकं गाथापदं सेय्यो यं सुत्त्वा उपसम्मति॥
यो च गाथा सतं भासे अनत्थपदसंहिता।
एकं धम्मपदं सेय्यु यं सुत्त्वा उपसम्मति॥

"व्यर्थ के पदों से युक्त हजार गाथाओं से भी एक गाथापद श्रेष्ठ है जिसे सुनकर शान्ति होती है। जो व्यर्थ के पदों से सौ गाथायें भी भाषै (उससे) धर्म का एक पद भी श्रेष्ठ है जिसे सुनकर शान्ति होती है।"

चाणक्य नीति में लिखा है:—

अनन्त शास्त्रं बहुलाश्च विद्या अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।
यत्सारभूतं तदुपासनीयं हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात॥

'शास्त्र अनन्त हैं और विद्या बहुत है, समय थोड़ा है और विघ्न बहुत हैं, अतः जो सार हो उसे प्राप्त करना चाहिए, जैसे हंस जल के मध्य से दूध को ले लेता है।" जो सार हो उसे ग्रहण कर ही पठन जारी रखना उचित है, हंस की भांति जल से दूध निकाल ग्रहण करते जाना ही उचित है। इस दृष्टि को रख कर हमारा अध्ययन सीमित रखना ठीक है किन्तु पुस्तकों वा ज्ञान के प्रति ही कम आसक्ति रखना तो बड़ा विकट परिणाम उत्पन्न करने वाला हो सकता है। यदि विज्ञान, पुरातत्व, इतिहास आदि विषयों की ज्ञान-निधि की ही हम उपेक्षा करें, अनवरत अध्ययन और गवेषणा में संलग्न न रहें तो संसार से वर्तमान ज्ञान का तो लोप ही होता चला जायगा, उसकी वृद्धि की आशा कहां तक की जा सकती है ! अतएव संसार की ज्ञान-वृद्धि में अनवरत संलग्न विद्वानों, गवेषणा में सन्नद्ध अन्वेषकों के सम्मुख क्या सीमित पुस्तकों वा पठन-सामग्रियों के अध्ययन, अनुशीलन की बात कभी आ सकती है ? क्षीर-नीर-विवेक-बुद्धि रख लेने पर हमारे अध्ययन की सीमा कभी भी सीमा के अन्दर नहीं रहनी चाहिए। ज्ञान के महानद की विकराल धाराओं को किनारों के आधीन रखने का क्या कोई मानव साहस कर सकता है !

मूल लेखक के उपन्यास के संबन्ध में विचार कुछ अतिरंजित नहीं कहे जा सकते। उनके विचार में उपन्यास के अत्यधिक पठन में विशेष अनिष्ट की संभावना है। अधिकांश

उपन्यासों में कथानक वा कृत्रिम घटना-चक्र के अतिरिक्त कोई मनोहरता नहीं होती। लेखक विकट घटनाओं के जाल में पाठक को डाल देता है जो उपन्यास के अन्त में ही टूटता है। उपन्यास में चित्रित अधिकांश पात्र उच्च कोटि के नहीं होते। अनेक उपन्यासों में उसका आकर्षण कुछ निकृष्ट उद्वेगों को उत्तेजित करने में ही होता है। जो उद्देश्य प्रतिपादित होते हैं वे भी निम्न कोटि के और अनुकरण करने के अयोग्य होते हैं। फिर भी यह शोक की बात है सार्वजनिक पुस्तकालयों में जहां अन्य विषयों की कुछ पुस्तकें होती हैं वहां उनके दुगुने चौगुने उपन्यास ही होते हैं।

उपन्यासों की लोकप्रियता इतनी अधिक है किन्तु वे निश्चित रूप से पूर्ण मानसिक स्वभाव के लिए हानिकर होते हैं। उदाहरणार्थ उपन्यास पढ़ने से एकाग्रशक्ति दूषित होती है। सारा ध्यान यदि कहीं जाता है तो केवल घटना-चक्र पर और प्रायः ऐसा होता है कि लोग पुस्तक को ऊपर ही उपर देखकर क्रम समझते भर जाने के लिए पन्ने उलटते जाते हैं और बार बार अंतिम पृष्ठों को उसका अंत जानने के लिए देखते हैं। इस प्रकार के वाचन में निश्चय ही स्मरण, विवेचन तथा विश्लेषण शक्ति को उचित्त शिक्षण पाने का अवसर नहीं रहता। इस में न तो मानसिक विकास होता है और न नैतिक लाभ। हम जानते हैं कि हमारी चेतावनी बेकार जायगी क्योंकि एक बार उपन्यास पढ़ने की लत पड़ जाने पर वह इतनी तीव्र और दुर्दमनीय हो

जाती है कि फिर छूट नहीं सकती, फिर भी हम चेतावनी का एक शब्द कहदेते हैं, और सब बातों को भगवान पर छोड़ देते हैं।

साधारणतया उपन्यासों के पढ़ने के सम्बन्ध में पुस्तक के मूल लेखक के ये विचार ग्राह्य हैं किन्तु श्रेष्ठ उपन्यासों के संबंध में तो ये बातें लागू नहीं हो सकतीं। एक तो समय की प्रगति के अनुसार किसी भी भाषा में उत्कृष्ट उपन्यासों की रचना होने से रह नहीं सकती जिस पर ये विचार किसी भी प्रकार लागू नहीं हो सकते, किन्तु ऐसा न भी हो तब भी इतना तो हमें मानना ही पड़ेगा कि उपन्यास अस्त्र की तरह हैं, उनका प्रयोग चाहे वीरता-प्रदर्शन में हम करें वा क्रूरता पूर्वक वध, नरसंहार में। सारा संसार इस बात को मानने से कभी इनकार नहीं कर सकता कि उपन्यास जीवन का यथार्थ चित्र होने पर क्या नहीं कर सकता। नवसमाज-निर्माण, भीषण क्रान्ति, नवयुगारम्भ तक उपन्यासों से हो सकते हैं। ऐसा भी नहीं है कि संसार के साहित्य में आज भी ऐसे उपन्यास मौजूद न हों।

मूल लेखक ने बहुसंख्यक पत्र-पत्रिकाओं को भी नवयुवकों के लिए बहुत हानिकर बताया है। जो बात उपन्यासों के संबंध में कही जा सकती है वही नीरक्षीर-विवेक वाली बात इस संबंध में भी हमें जाननी चाहिए।

पुस्तकों की प्रशस्ति के साथ यह अध्याय समाप्त किया जासकता है। बेकन ने लिखा है कि "उत्कृष्ट पुस्तकें सच्चा

मित्र होती हैं। वे कभी चाटुकारिता वा पाखंड नहीं करती। मिल्टन ने लिखा है कि "किसी अच्छी पुस्तक का विध्वंस करना प्रायः किसी मनुष्य को विध्वंस करने के तुल्य ही है। जो किसी मनुष्य का संहार करता है वह एक विवेकी प्राणी, भगवान की प्रतिमा का संहार करता है। किन्तु जो किसी अच्छी पुस्तक का संहार करता है वह विवेक का ही संहार करता है। वह मानो भगवान की प्रतिमा की आँख पर ही आघात कर उसका संहार करता है।"

६—विश्वासों का नियमन

सर्वसाधारण में प्रचलित धारणाओं में एक यह भी धारणा है कि हम लोग अपने विश्वासों के लिये उत्तरदायी नहीं हैं। उसी के साथ एक यह भी धारणा है कि वे महत्वपूर्ण नहीं होते, मुख्य बात हृदय का सच्चा होना है; और यदि कोई आदमी सच्चा है तो उसके विश्वासों का कोई महत्व नहीं। इसके सम्बन्ध में यह स्पष्ट है कि यदि मनुष्य सच्चा है तो यदि उसके विश्वास कुछ महत्व के नहीं हैं तो सत्य का अनुसंधान आंशिक रूप से महत्वहीन हो जाता है और सत्य का शोध कर लेने पर उसका अनुगमन निरर्थक सा हो जाता है, किन्तु ये बातें बेहूदी हैं। सत्य और भ्रान्ति के मध्य सतत अन्तर है और भ्रांति से कभी भी चरित्र और जीवन का सौष्ठव नहीं उत्पन्न हो सकता जो सत्य प्राप्त करता है।

हमारे विश्वास हमारी मानसिक स्वीकृति होते हैं जो हम बुद्धि द्वारा सत्य स्वीकार करते हैं। जब ये विश्वास नैतिक विषयों से सम्बन्ध रखने वाले होते हैं तो वे नैतिक स्वीकृति से संबंध रखने वाले होते हैं और उनके लिए नैतिक अनुसरण, निश्चय और क्रियाशीलता की आवश्यकता होती है उदाहरणार्थ कोई आदमी यह तथ्य स्वीकार कर सकता है कि सूर्य हमसे नौ करोड़ मील दूर है और ऐसा स्वीकार कर लेने

पर वह न तो कुछ अच्छा होता है और न बुरा, किन्तु कोई यह विश्वास करे कि ईश्वर है और आचरण के लिये एक नीति शास्त्र है तो यह आवश्यक होता है कि उसकी इच्छा-शक्ति और अन्तःकरण विश्वास के अनुकूल हो।

अतएव विश्वास का उत्तरदायित्व दो या तीन विभागों के आधीन विचारा जा सकता है (१) मानसिक, (२) नैतिक और (३) इच्छा-शक्ति-विषयक। इन बातों के विचार के लिये हम कुछ व्यावहारिक स्वयंसिद्ध बातों को इङ्गित करेंगे जो विश्वासों के नियमन का सच्चा मार्ग प्रकट करेंगी।

१--अपने निर्भ्रान्त विश्वास को निश्चित करना चाहिए। हमें नींव की भाँति पहले कुछ सत्यों की आवश्यकता है जो निर्विवाद हों। अतएव निस्संदिग्ध रूप से अपने प्रारम्भिक सत्यों और तथ्यों को निश्चित करलो जो सदा अपरिवर्तित रह सकें। यह अन्य गौण सत्यों के लिये नींव के पत्थर की भाँति होगा। यदि ध्रुव निश्चय केवल एक हो तो उसी को अविचल आधार की भाँति स्थिर कर ले। प्रारम्भिक सत्य ही चरित्र पर अत्यधिक विस्मय-जनक प्रभाव डालते हैं। बहुत से व्यक्ति ऐसे बने होते हैं कि वे सरलतम प्रारम्भिक सत्य ही स्वीकार कर सकते हैं, किन्तु हम लोगों में से छोटे बड़े सभी को अन्त में इन्हीं की शरण लेनी पड़ती है।

भगवान ने निर्धारित किया कि इस प्रयोजन के लिए मनुष्य अपने विवेक से काम ले, इसीलिए मनुष्य को सृष्टि के प्रारम्भ में ही अन्य प्राणियों की अपेक्षा विवेक भी प्रदान किया।

हम इस सृष्टि की रचना में इतनी अधिक बुद्धि लगी देखते हैं इसलिये यह निश्चित है कि इसका कोई सृजक अवश्य होना चाहिये। जब इसका इतना विस्मयजनक आयोजन हुआ है तो कोई आयोजक अवश्य ही होना चाहिये। एक विद्वान का कथन है कि "कुछ परमाणुओं के एक साथ अपनी इच्छा से गिरने और उससे एक वनस्पति, कीटाणु व सजीव प्राणी की ही उत्पत्ति होने की कल्पना लीजिए।" एक दूसरे विद्वान का कथन है कि "जिस किसी भी वस्तु का अस्तित्व होना प्रारम्भ होता है, उस वस्तु का कोई कारण अवश्य होना चाहिए। किसी विशेष प्रयोजन के लिये साधनों का संयोग होना बुद्धि की विद्यमानता प्रकट करता है।"

ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए दार्शनिकों ने जो तर्क और प्रमाण उपस्थित किए हैं यहां पर उनका थोड़े में विवरण देना संभव नहीं है। ऐसे गहन विषय के ज्ञान के लिए वेदों, उपनिषदों.शास्त्रों तथा अन्य दार्शनिक तथा विवेचनात्मक ग्रंथों का ही अध्ययन करना उचित है। 'आस्तिकवाद' में इस विषय की बड़े विशद रूप से तर्कपूर्ण मीमांसा करने का प्रयत्न किया गया है। हम प्रमाणों का उल्लेख न कर कतिपय महर्षियों और विद्वानों के आस्तिकता संबन्धी वाक्य ही उद्धृतकर संतोष करेंगे।

वेदों में कहा है:—

ओ३म्। हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे,भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

"जो प्रकाश स्वरूप है और जिसने प्रकाशक सूर्य चन्द्रादि उत्पन्न करके धारण किए हैं, जो सम्पूर्ण जगत का स्वामी, एक ही चेतन स्वरूप था, जो सब जगत के उत्पन्न होने से पूर्व भी वर्तमान था, वह इस पृथ्वी, विस्तृत अन्तरिक्ष और द्युलोक को धारण कर रहा है, हम लोग उसी देव की भक्ति किया करें।"

उपनिषदों में कहा गया है:—

क एवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। (तैत्तिरी०)

"कौन गति कर सकता और कौन प्राण धारण कर सकता यदि आकाशवत् व्यापक परमात्मा आनन्द स्वरूप न होता?"

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
(कठ०)

"न वहाँ सूर्य चमकता है, न चन्द्र और तारे और न यह बिजलियाँ चमकती हैं, यह अग्नि भला वहाँ कहाँ? उसके ही पीछे और सब चमकते हैं, उसके ही प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है।"

एष सर्वेश्वरः एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्यामी।
एष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥ (मांडूक्य०)

"यह परमात्मा ही सब का अधिपति है, यह ही सर्वज्ञ और अन्तर्यामी है। यह परमेश्वर ही सब चराचर सृष्टि की उत्पत्ति तथा रूप का मुख्य कारण है।"

महर्षि पातंजलि ने योग दर्शन में लिखा है:—

क्लेशकर्मविपाकशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः तत्र निरतिशयं सार्वज्ञय वीजम् ।

"सब प्रकार के क्लेश, कर्मफल तथा रागद्वेष से सर्वथा शून्य, कोई व्यापक चेतन अवश्य है। उस चेतन विशेष को ही ईश्वर कहना चाहिये, क्योंकि उस ईश्वर में सर्वोपरि सर्वज्ञता विद्यमान है।"

गीता में कहा है:—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
"यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदंततम् ॥

"हे अर्जुन, वह परम पुरुष जिसके भीतर सब सृष्टि स्थित है और जिससे यह सब जगत व्याप्त है, अनन्य भक्ति से पाने योग्य है।"

भगवान की विभूति वतलाते हुए गीता में कहा है:—

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥

"यदि आकाश में सहस्र सूर्यों का प्रकाश एक साथ उदय हो तो वह उस महापुरुष के प्रकाश के समान हो।"

यूरोप के प्रसिद्ध बुद्धिवादी दार्शनिक डेकार्टे का कथन है:—

"मैं अपने हृदय में ऐसे ईश्वर की भावना ऐसे पदार्थ रूप में पाता हूं जो अनन्त, शाश्वत, अविनाशी, स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, सर्व-

शक्तिमान है जिससे मेरी और सब वस्तुओं की रचना और उत्पत्ति हुई है।"

अरस्तू ने लिखा है कि:—

"ईश्वर सृष्टि का कारण, गति का मूल है, सर्वप्रथम गति उत्पन्न करने वाला वही है। उसको किसी ने गति नहीं प्रदान की।"

अफलातून ने घोषित किया है कि:—

"सब अल्प सत्ताओं के परे, सब गौण कारणों, नियमो, विचारों और सिद्धान्तों के उस पार एक बुद्धि या ज्ञान (आत्मा) है जो सब नियमों का आदि मूल नियम है, वह परम विचार है जो अन्य विचारों का आधार है। वही सृष्टि का राजा तथा नियंता है। वह आदि मूल सत्ता है जिससे सब पदार्थ अपने स्वत्व तथा तत्व को प्राप्त करते हैं। यह समस्त संगठन, सौन्दर्य, तथा उत्तमता का, जो सृष्टि में व्यापक है, मूल कारण है। इसी को श्रेष्ठता तथा सर्वोपर्यता के कारण परम उत्तमता या ईश्वर कहते हैं। यही सबका अधिष्ठाता है।"

इन बातों से ईश्वर की विद्यमानता का विश्वास होता है। जिसने इस ब्रह्माड की रचना की। इसी प्रकार जीव और नैतिक चेतना के सम्बन्ध आदि में हमारे जो अन्य प्रारम्भिक विश्वास हो सकते हों उनको निश्चित कर लेना चाहिए।

२—अपने विश्वासों को दृढ़ रखना चाहिए। संकल्प-विकल्प में पड़ा मनुष्य सदा भ्रमजाल में पड़ा रहता है। अपने विश्वासों

पर तो विश्वास और सन्देहों पर सन्देह करते रहो। विश्वासों पर सन्देह और सन्देहों पर विश्वास करने की भारी भूल मत करो। लोगों की यह धारणा हो रही है कि हमें प्रत्येक बात पर सन्देह करना चाहिए किन्तु सन्देह करने की अपेक्षा उस पर उस समय तक मौन रहना बहुत अच्छा हो सकता है जब तक कि हम किसी एक निर्णय पर न पहुँच जायँ। एक विद्वान का कहना है कि "यदि सन्देह से अभिभूत होने पर हम सन्देहों का ही अनुगमन करने लग जायँ तो हमारा पतन प्रारम्भ हो जाता है और हमारे सन्देह निश्चित तथ्य हो जाते हैं। किन्तु यदि हम ईश्वर का भरोसा कर उन पर अविश्वास कर चलते हैं तो वे सन्देह निर्मूल हो जाते हैं।" धारणाएँ और सम्मतियां परिवर्तनीय होती हैं, वे मकड़ी के जाले की भाँति सुगमतया ही निर्मित होती हैं, बड़ी चतुरता से बुनी जाती हैं और उतनी ही आसानी से टूट भी जाती हैं। मनुष्य को प्रेरित और संचालित करने वाली शक्ति दृढ़ विश्वास हैं जो विवेकयुक्त और अटल हो।

भगवान बुद्ध का उपदेश है कि:—

आरोग्य परमा लाभा सन्तुट्ठी परमं धनं।
विस्सास परमा ञाती निब्बाणं परमं सुखं॥

"निरोग होना परम लाभ है, सन्तोष परम धन है। विश्वास सब से बड़ा बन्धु है, निर्वाण सब से बड़ा सुख है।"

३—मानसिक विवेकशीलता उत्पन्न करना चाहिए। एक विद्वान का कथन है कि चतुर और विक्षिप्त पुरुष में यह अन्तर होता है कि चतुर पुरुष तो तथ्यों को अंगीकार कर उसके अनुसार कार्य करता है किन्तु विक्षिप्त व्यक्ति कल्पनाओं को ही स्वीकार कर उनके अनुसार कार्य करता है।" विवेकशीलता दिखाने के कितने ही ढंग हैं। उदाहरणार्थ नैतिक समस्याओं के लिए गणित का प्रमाण नहीं मांगना चाहिए। हम गणित द्वारा यह सिद्ध कर सकते हैं कि दो और दो मिल कर चार होते हैं, वा त्रिभुज के तीन कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होते हैं किन्तु हम गणित द्वारा यह नहीं सिद्ध कर सकते कि सत्य और मिथ्या नैतिक रूप से विभिन्न होते हैं। नैतिक समस्याओं के लिए नैतिक व्याख्या की आवश्यकता होती है। इस कारण वह व्यक्ति मूर्ख है जो नैतिक क्षेत्र में गणित के प्रमाण चाहता है।

४—अपनी सीमितता को स्वीकार करना चाहिए। हमें नम्र होना चाहिए। हमें यह समझना चाहिए कि कोई बात यदि तर्क के परे है तो वह तर्क के विरुद्ध ही नहीं है, क्योंकि वह सत्य होकर भी हमारी तर्क-शक्ति से परे उसी प्रकार हो सकती है जैसे कोई वस्तु हमारी दृष्टि से परे हो, किन्तु हमारी दृष्टि से परे होने पर भी वह विद्यमान हो।

५—मानसिक रूप से ईमानदार बनना चाहिए, मानसिक निष्कपटता विरले लोगों में ही होती है। एक विद्वान का कथन है कि सच्चे मनुष्य में सभी सद्गुण होते हैं। पाप की उत्पत्ति

अतिविश्वासी बुद्धि से होती है। शैतान भगवान के विना बुद्धि की प्रतिमूर्ति होता है और वह असत्यों का जनक होता है। नितान्त मानसिक ईमानदारी अर्थात ऐसी मनुष्यता बहुत दुर्लभ होती है जिसमें सत्य के प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करने की सच्ची इच्छा वा संकल्प किसी भी प्रकार अपने प्रति होता है, किन्तु यह लाभप्रद होती है। दृष्टिगोचर पदार्थ बहुत हैं जो पर्वतों को आवेष्टित करने वाले बादलों वा भाप की भाँति शीघ्र विलीन हो जाते हैं किन्तु अदृश्यमान पर्वत जो स्वयं भव्य होता है मेघ और वाष्प युक्त सहस्रों शताब्दियों के शून्य में विलुप्त हो जाने के बाद भी इन्द्रासन की भाँति अविचलित रहेगा। जो व्यक्ति सत्य का अनुसंधान करता है और उसे पाकर उसे दृढ़ता से ग्रहण कर लेता है, उसके लिए उसे चाहे जो भी कष्ट उठाना पड़े, उसमें शाश्वत का मुख्य तत्व विद्यमान होता है।

६—स्वतंत्र बनना चाहिए। यदि आवश्यकता हो तो स्वयं अकेले उठना चाहिए और जनसमूह वा महान कहलाने वाले व्यक्तियों का आँख बन्द कर अनुसरण नहीं करना चाहिए। हमें दूसरों का अन्धभक्त बनने की आवश्यकता नहीं। समाज, जाति वा उपदेशकों का अन्ध अनुकरण हानिकर हो सकता है। यदि अपने विश्वासों की रक्षा करना हो तो अपनी संगति का नियमन करना चाहिए। संदेह का निराकरण करने की अपेक्षा संदेह उत्पन्न कर देना अधिक सरल होता है। कोई भी

मूर्ख ऐसे प्रश्न कर सकता है जिसका उत्तर कोई विद्वान न दे सकता हो किन्तु कोई भी विद्वान कोई ऐसा प्रश्न नहीं खड़ा कर सकता जिसका उत्तर देने का प्रयत्न करने के लिए वह कोई मूर्ख तैयार होते न देखे। हमें प्रचलित संदेहों के सूक्ष्म प्रभाव से वचने की आवश्यकता है जो उस हवा में निहित हो जिसे हम सांस लेते हैं।

इस विषय के मानसिक पहलू की विवेचना संक्षेपतया कर लेने के बाद अब हम इसके नैतिक रूपों पर विचार करना चाहते हैं। ये मानसिक की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होते हैं क्योंकि उनका चरित्र के आधार पर अधिक प्रभाव पड़ता है। हम इसमें भी कुछ युक्तिसंगत स्वयंसिद्धियों के द्वारा विचारों की धारा प्रदर्शित करेंगे जो अधिकतर गणित की स्वयंसिद्धियों की तरह स्वयं स्पष्ट होंगी।

१—शिक्षणग्राही वनना चाहिए अर्थात् नैतिक विश्वासों को ग्रहण करने में समर्थ होना चाहिए। शिक्षाग्रहणशीलता एक सर्वोत्तम सफलता है। पूर्ण शिक्षणग्राही वृत्ति नैतिक ईमानदारी के बिल्कुल समान होती है। पक्षपात के कारण अपनी पूर्ण प्रकृति को सत्य से दूर आवद्ध कर रखना सम्भव है जिससे उसमें ऐसी वाधा डाली जाय कि वह चरित्र को प्रभावित करने की यथार्थ सामर्थ्य न रख सके। अरस्तू ने लिखा है कि "सत्य वही है जो कुछ कोई वस्तु स्वयं, अपने संवन्ध में और उस माध्यम में होती है जिसके द्वारा वह निरीक्षण की जाती

है" एक दूसरे विद्वान का कथन है कि "सूर्य का प्रकाश अपार-दर्शी पदार्थ पर पड़ता है तो उसका केवल ऊपरी तल प्रकाशित करता है और उस वस्तु का अंतर्वर्ती भाग अंधकारमय ही रहता है, किन्तु सूर्यका वही प्रकाश जब पूर्ण पारदर्शी पदार्थ पर पड़ता है तो कोई बाधक पदार्थ न होने के कारण उसके नितान्त अन्तर्वर्ती भाग में प्रविष्ट हो जाता है और उसे प्रकाशित करता है।" विश्वास के ग्रहणशील और सत्य के अनुसंधान और तत्पश्चात् अनुसरण में तत्पर मस्तिष्क और हृदय दुर्लभ होते हैं किन्तु सत्य की सच्ची और पूर्ण स्वीकृति के लिए वे अनिवार्य होते हैं।

शिक्षणग्राही बनने का एक मार्ग अपनी नैतिक संगति का नियमन करना है। हम जैसे होते हैं वैसे ही लोगों की संगति करते हैं। भले लोगों में और बुरे लोगों में सादृश्य होता है। सादृश्य के कारण भले भलों से और बुरे बुरों से मेल जोल करते हैं। इस कारण दोनों वर्ग के आदमी अपनी इच्छा से एकत्र होते हैं। और अंततः स्वर्ग वा नरक की सृष्टि करते हैं। हम अपनी अनेक सम्मतियों को ग्रहण करते हैं और स्वभावतया ही हमारे साथी भाव और विश्वास, वा संदेह और सत्य का प्रतिकार इंगित करते हैं।

२—नैतिक रूप से पवित्र बनो। हृदय शुद्ध रक्खो और अंतःकरण को भगवान वा मनुष्य के प्रति पाप से वंचित रक्खो। बुद्धि को उस दशा में समझाने का प्रयत्न बेकार है जब

कि बाधा का यथार्थ कारण नैतिक प्रकृति में है। एक व्यक्ति ने एक पापात्मा को उपदेश देने का प्रयत्न किया जो लोभ में डूबा हुआ था। उपदेश का कुछ प्रभाव न देख उसने एक पट्टी पर भगवान लिखकर पापात्मा को दिखा कर पूछा कि 'क्या तुम इसे देख सकते हो' तो उसने उत्तर दिया 'हां' इस पर उसने ठीक उस शब्द के सामने एक स्वर्ण मुद्रा रख कर पूछा 'कि क्या अब भी इस शब्द को देख सकते हो' तो उसने उत्तर दिया 'नहीं'। इस पर उसने समझाया कि दृष्टि के सम्मुख लोभ रूप स्वर्ण मुद्रा पड़े रहने से भावना की बात मनुष्य को नहीं सूझा करती। जहां नैतिक व्यतिक्रम से सन्देह उत्पन्न होता है उसकी दवा नैतिक ही हो सकती है। हृदय का रोग मस्तिष्क की चिकित्सा करने से अच्छा नहीं हो सकता। इसी प्रकार यदि नेत्र की दृष्टि ही मन्द हो वा रोशनी धुंधली हो तो साफ लिखावट भी नहीं पढ़ी जा सकती। यदि किसी गुप्त नैतिक उद्देश्य वा सत्य का प्रतिकार करना ही है तो उस पर तर्क का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सकता। बहुत से ऐसे नर-कीट हैं जो अंधेरे में ही रहना पसंद करते हैं और जब आप कोई सत्य का ढोंका पलटते हैं और अन्दर प्रकाश जाने देते हैं तो वे कीट अपनी बिलों में भाग जाते हैं।

३—आज्ञाकारी बनो। जहां सत्य की भांति सत्य का निदर्शन करना हो वहां उसका अवश्य अनुसरण करना चाहिए। आज्ञाकारी वृत्ति होने पर कर्तव्य कितना आश्चर्य-जनक रूप से

सुगम बन जाता है। पाप का बोझा लदा होने पर मनुष्य दबा रहता है किन्तु मैल रूप बोझ के हटते ही मनुष्य गुब्बारे की भांति अत्यन्त ऊँचे उठ जाता है।

सत्य को देख कर उसका प्रतिकार करना बड़ी भयानक बात है। अपनी पीठ को दीवाल से चिपका कर सत्य और ईश्वरीय वृत्ति को प्रतिरोधी की भांति मर्दन करना अक्षम्य अपराध है और कोई भी अन्य वस्तु हृदय को इतना शीघ्र पत्थर नहीं बनाती।

४—प्रार्थना और स्वाध्याय में लीन हो। विनयशीलता, पवित्रता, आज्ञाकारिता आदि गुण दैनिक सच्ची प्रार्थना और स्वाध्याय के अतिरिक्त किन्हीं अन्य साधनों से प्राप्त नहीं हो सकते। 'आस्तिकवाद' में 'ईश्वर-प्राप्ति के साधन' का विचार करते हुए लिखा है:—

"स्तुति में बहुत बड़ी शक्ति है। इसका परिचय एक बात से लग सकता है। हमारे शरीर पर हमारे मस्तिष्क का बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। हमारे समस्त कार्य मस्तिष्क से ही आरम्भ होते हैं। मस्तिष्क में पहले विचार उठता है, और यह विचार अनेक तन्तुओं द्वारा हमारे अवयवों को कार्य करने के लिए प्रेरणा करता है। भिन्न भिन्न विचार मस्तिष्क के कोष्ठों पर भिन्न भिन्न प्रभाव डालते हैं। कल्पना करो कि एक कामोत्पादक कथा सुनी जाय या गीतिका गाई जाय तो मस्तिष्क में एक प्रकार के

काम-सम्बन्धी विचार उठेंगे और उन विचारों द्वारा हम कुचेष्टायें करने लगेंगे जिनमें मानसिक कुचेष्टाएं भी शामिल हैं। परन्तु यदि वीररस के गीत गाये जायं तो उनके गाते ही बाहुओं में धड़कन उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार जब हम स्तुति करते हैं तो उन गुणों से सम्बन्ध रखने वाले विचार हमारे मस्तिष्क में उठते हैं और हमारे मस्तिष्क के कोष्ठों की बनावट में भी परिवर्त्तन हो जाता है। यदि लगातार सच्चे हृदय से उच्च स्वर से प्रार्थना की जाय तो जिस प्रकार के गुणों का उस प्रार्थना में वर्णन है उसी प्रकार के परिवर्तन हमारे मस्तिष्क में उत्पन्न होने लगते हैं।"

(द्वि० सं० पृ० ३८५, ३८६)

एक विद्वान ने लिखा है कि:--

'ईश-प्रार्थना मनुष्य को पाप से मुक्त कर देती है अथवा पाप मनुष्य को ईश-प्रार्थना से वंचित करने के लिए पाशबद्ध कर लेता है। सतत ईश-प्रार्थना करो, क्योंकि प्रार्थना आत्मा की ढाल और भगवान की आराधना है तथा शैतान की व्याधि है।" यदि हम किसी आधे भरे बोतल को जोर से हिलावें तो उसमें के पदार्थ में उग्र क्षोभ उत्पन्न कर सकते हैं किन्तु बोतल के पूरे भरे रहने पर हिलाने पर उसकी वस्तु में क्षोभ नहीं होता। इसी प्रकार दैवी वृत्ति में मग्नता मनुष्य के लिए सन्देह और पाप के लिए ढाल का काम करती है।"

६—सत्य चर्चा का प्रसार करो। ज्योंही तुम्हें नया सत्य मिले उसका प्रसार प्रारम्भ करो। यह सत्य अपने और अन्यों तथा भगवान के प्रति अपनी निष्ठा का परिणाम होना चाहिए। भगवान सत्य को दूसरों पर व्यक्त करने, प्रचारित करने का संदेश देते हैं किन्तु शैतान चुप रहने, भीड़ का अनुसरण करने और अपने ही लिए जीने की सलाह देता है।

१०—स्वभाव का नियमन

विचार, भावना, और रुचि के ही दृढ़ होकर स्थायी हो जाने से स्वभाव बनता है। पहले जो 'आकस्मिक' रहता है वही पुनरावृत्तियों द्वारा अभ्यास बन जाता है, कभी कभी वह अनजाने भी अभ्यस्त बन जाता है। इस तरह जो पहले स्वाभाविक प्रवृत्ति रहती है, जिसमें हम संलग्न होते हैं, वही बाद में भला या बुरा स्वभाव बन सकता है। हम प्रायः बच्चों में क्रियाशीलता की स्वाभाविक प्रवृत्ति को अध्यवसाय के स्वभाव रूप में परिवर्तित होते देखते हैं। उनमें कौतूहल की स्वाभाविक प्रवृत्ति को वस्तु उपलब्ध करने का स्वभाव, जिज्ञासा की स्वाभाविक प्रवृत्ति को परिपक्व होकर अनुसंधान करने का स्वभाव, अनुकरण करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति को आदर्श का निर्दोष रूप से अनुगमन करने का स्वभाव, तथा विश्वास की स्वाभाविक प्रवृत्ति को श्रद्धा रखने का स्वभाव हो जाते देखते हैं। इसके विपरीत चंचलता की स्वाभाविक प्रवृत्ति छिछोरेपन का स्वभाव बन सकती है, और झगड़ने की स्वाभाविक प्रवृत्ति लड़ने का उग्र स्वभाव। अतएव बच्चों में स्वभाव-निर्माण में नियंत्रण की विशेष आवश्यकता है।

हमने जैसा ऊपर लिखा है, स्वभाव की उत्पत्ति पूर्ण चेतना वा इच्छा शक्ति के प्रत्यक्ष कार्य बिना भी हो सकती है। एक

विद्वान ने, जिसके नाम का कुछ पता नहीं, बड़ी बुद्धिमानी की एक बात कही है कि "हम विचार का बीज बो कर कार्य पैदा करते हैं। कार्य का बीज बोकर स्वभाव पैदा करते हैं, स्वभाव का बीज बोकर चरित्र पैदा करते हैं और चरित्र का बीज बोकर भाग्य की फसल तैयार करते हैं।"

स्वभाव के नियमन का अध्ययन करते समय हमारा ध्यान स्वभावतया पहले सब से निकृष्ट वर्ग के स्वभाव की ओर जाता है जो खुले तौर पर और बहुत स्पष्ट रूप से अनैतिक और कलुषित होता हैं किन्तु यह एक संतोष की बात है कि उनकी बहुत चर्चा करने की हमें आवश्यकता नहीं, क्योंकि हम यह स्वीकार कर लेते हैं कि हमारे पाठक उन बुराइयों में फँसे नहीं हैं। फिर भी उनमें से तीन बहुत ही अधिक प्रमुख हैं: मद्यपान, कामवासना और मिथ्या-भाषण।

मद्यपान के संबन्ध में हमें यही कहना है कि यह बहुत ही आश्चर्य की बात है कि कोई विचारवान मनुष्य इस व्यसन का किस प्रकार दास बन जाता है। एक प्रसिद्ध डाक्टर का चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से कथन है कि "विष प्रयोग से स्वयं संज्ञाहीन बनना और मद्य के नशे में चूर होना मुझे निर्विघ्न आत्म-चेतनता और अविचल आत्म-निग्रह के विलोम पर्याय जान पड़ते हैं।" एक दूसरे अनुभवी विद्वान ने कहा था कि "मैं भगवान से दूर भटकने लगा और मैंने अपने शोकों को मद्यपान में मग्न करने का प्रयत्न किया किन्तु मैं देखता हूँ कि शोक अच्छा

वेराक है और आसानी से डुबोया नहीं जा सकता।" शोक और परितापों के प्रतिकार के लिए मद्यमान करना तो ऐसी औषधि सेवन करने तुल्य है जो रोग से भी अधिक हानिकर हो। धनकुबेर कारनेगी ने कहा था कि "मेरा सर्वोत्तम मादक-निषेध-भाषण उस समय था जब मैंने अपनी एक जागीर में सब प्रकार के मादक द्रव्यों का सर्वथा परित्याग करने वाले सभी श्रमिकों को दस प्रति शत पुरस्कार-वृत्ति देने की घोषणा की।"

मद्यपान को निषिद्ध बताने वाली सबसे बड़ी बात यह है कि वह ऐसा व्यसन है जो विवेक हरण करता है और कुछ समय के लिए उसे अपने स्थान से सर्वथा च्युत कर देता है, अतएव अपनी आत्मा के प्रति इस अपराध के साथ ही अत्यधिक विकट ऐन्द्रिक दंड भी मिलता है; भगवान प्रायः मद्यपान को अंतिम रूप में मनुष्य के अन्तःकरण से विवेक और चेतनता दोनों को अधिकार-च्युत कर लेने देते हैं। दूसरा कोई भी एक स्वभाव समाज में इतना व्यापक संहार नहीं कर सकता। यदि संसार से मद्यपान का लोप हो जाता तो अपराधों के अधिकांश उसके साथ ही लुप्त हो जाते।

मनुष्य की बुराइयों में मद्यपान के बाद सबसे अधिक व्यापक काम-वासना है। इस सामाजिक कलंक का शमन करने में समाज सर्वथा असमर्थ रहा है। भर्तृहरि ने बड़ी निराशा पूर्वक अपने शृंगार शतक में लिखा है:—

मत्तेभकुम्भदलने भुवि संति धीरा:
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः॥

"पृथ्वी पर ऐसे धीर पुरुष हैं जो मतवाले हाथी के मस्तक को फाड़ सकें। ऐसे भी कुशल जन हैं जो प्रचंड मृगराज को भी मार सकें? किन्तु मैं ललकार कर बलियों के सामने कहता हूँ कि कामदेव के मद को हटाने वाले कोई विरले ही पुरुष होते हैं।"

भगवान बुद्ध का भी वचन है:—

कामतो जायते सोको, कामतो जायते भयं।
कामतो विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं॥

"काम से शोक उत्पन्न होता हैं, काम से भय उत्पन्न होता है, काम से मुक्त को शोक नहीं, फिर भय कहाँ?"

श्री मद्भगवद्गीता में कृष्ण भगवान ने कहा है कि:—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्माविद्ध्येनमिह वैरिणम्।

"रजोगुण से उत्पन्न होने वाला यह काम, यह क्रोध बड़ा खाऊ और पापी है; तू इसको यहां बैरी जान॥"

चाणक्य नीति में भी वर्णित है कि:—

नास्ति कामसमो व्याधिर्नास्ति मोह समो रिपुः।
नास्ति कोप समो वह्निर्नास्ति ज्ञानात्परं सुखम्॥

"काम-लिप्सा के समान व्याधि नहीं, मोह के समान वैरी नहीं, क्रोध के समान आग नहीं और ज्ञान से बढ़ कर कोई सुख नहीं।"

चाणक्य का यह लिखना भी बिल्कुल ठीक है कि 'न पश्यति च जन्मांधः कामान्धो नैव पश्यति' अर्थात न तो जन्म के अन्धे को दिखाई पड़ता है और न कामान्ध को। इस कलुषित काम-लिप्सा का जो आघात पहुँचता है उसका प्रभाव संपूर्ण शरीर पर पड़ता है। यह केवल शरीर को ही विषाक्त और दुर्बल नहीं करती, बल्कि स्मरण शक्ति को दूषित स्मृतियों तथा अपवित्र मूर्तियों की कल्पना से आच्छादित कर देती है। यह अन्तः-करण को पथभ्रष्ट कर देती है और इच्छा शक्ति को निर्बल कर देती है। इसमें लिप्त हुआ पुरुष उसमें नित्य अधिकाधिक लिप्त ही हुआ जाता है। उसकी आकांक्षा कभी तुष्ट नहीं हो पाती। महाभारत में यथार्थ लिखा है कि:—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते॥

"काम विषयभोग से कभी शान्त नहीं होता, बल्कि घृत पड़े अग्नि के समान भभकता है।"

तीसरे विकट दुर्गुण मिथ्याभाषण का स्वभाव भी बड़ा अनिष्टकर होता है। मिथ्याभाषण के स्वभाव में केवल असत्य बोलना ही नहीं सम्मिलित है, बल्कि अतिशयोक्ति भी समाविष्ट है, जो कोई सत्य से परे कोई बेतुकी बात कहकर उसके आवरण

के रूप में कही जाती है वा जिसमें विस्मृत बात की पूर्ति के लिए मनगढ़ंत बात बना ली जाती है, वा किसी घटना वा सत्य के सम्बन्ध में कथन के साथ नमक मिर्च लगा लिया जाता है। यह अतिरंजित वर्णन भी मिथ्याभाषण ही में सम्मिलित होता है। ये सूक्ष्म स्वभाव हैं जो बड़ी तीव्रता से बढ़ते हैं और निरंकुश नियंत्रण प्राप्त कर लेते हैं। मिथ्या भाषण और छल के स्वभाव का सबसे बुरा लक्षण एक यह है कि वह सत्य और ईमानदारी की क्षमता को ही नष्ट करता जान पड़ता है। इस प्रकार के सभी जघन्य स्वभावों से मुक्ति पाने का एक मात्र उपाय यह है कि इनका तुरन्त और सर्वथा परित्याग किया जाय।

इन अनैतिक स्वभावों के बाद हम द्वितीय श्रेणी के स्वभाव को लेते हैं जिनकी हानिकारक वृत्ति इतनी अधिक स्पष्ट नहीं होती, किन्तु जो अनैतिकता और अपवित्रता तक का मार्ग दिखला सकते हैं।

हम सबसे पहले दीर्घसूत्रता वा काम टालते जाने के स्वभाव को लेते हैं जिस से आज किए जाने वाले काम को कल वा किसी अधिक सुविधाजनक भविष्यकाल पर टाल दिया जाता है। यह एक ऐसा स्वभाव है जो बहुत अधिकता से अपना प्रभाव दिखलाता है और बहुत रुचिकर तथा बाह्य रूप से युक्ति-संगत मालूम पड़ता है क्योंकि किसी कार्य को कार्यान्वित करने के समय उसके उद्देश्य को मनुष्य भूल जाया करता है। इस लिए यह कहावत है कि "नर्क का द्वार अच्छे इरादों से भरा

रहता है। यह बहुत प्रसिद्ध उक्ति है कि "कल कभी नहीं आता।" अर्थात् कल पर छोड़ा हुआ काम कभी भी पूरा नहीं होता। इसलिए कहा गया है कि:—

काल करे सो आज कर, आज करे सो अब्ब।
पल में परलै आयगी, बहुरि करोगे कब्ब॥

एक विद्वान की यह उक्ति बड़ी सुन्दर है कि "आने वाला कल मूर्ख के लिए बुद्धिमत्ता का, धूर्त के लिए ईमानदारी का, दीर्घ-सूत्री के लिए निर्णय करने का, आलसी के लिए काम करने का होता है।" जो केवल कपोल कल्पना, मधुर आकांक्षा मात्र होती है, कभी पूर्ण नहीं हो सकती। कबीर ने भी कहा है:—

आज कहै मैं कल करूं काल कहै फिर काल।
आज काल के करत ही, औसर जासी चाल॥

ऐसे दीर्घसूत्री पुरुषों के लिए भगवान बुद्ध ने भी उपदेश किया है कि:—

उट्ठान कालम्हि अनुट्ठहानो युवा बली आलसियं उपेतो।
संसन्न सङ्कप्पमनो कुसीतो पञ्ञाय मग्गं अलसो न विन्दति।

"जो उद्योग के समय उद्योग न करने वाला, युवा और बली होकर भी आलस्य से युक्त होता है, मन के संकल्पों को जिसने गिरा दिया है, और जो कुसीदी (दीर्घसूत्री) है वह आलसी पुरुष प्रज्ञा के मार्ग को नहीं प्राप्त कर सकता।"

मरण-काल के अनुभव के दो दृष्टान्त दीर्घसूत्रता के खतरे को प्रकट करते हैं। बहुत दिन हुए रूस के सम्राट पीटर महान

की मृत्यु हुई थी। अपनी वसीयत लिखने का काम अन्त तक उन्होंने डाल रक्खा था। उन्मत्ततापूर्वक उन्होंने स्लेट मंगवाई और वसीयत के दो शब्द लिखे कि "हमारी जायदाद दी जाय" किन्तु जिसे वसीयत दिलानी थी उसका नाम भरने तक का अवसर उन्हें नहीं मिला और वे यमपुर को विदा हो गए। भगवान की दृष्टि में बहुत लोगों का जीवन इसी प्रकार का अधूरा वाक्य ही है जिनमें आज के कर्तव्य को सदा कल पर टालते रहने की दीर्घसूत्रता होती है। दूसरा उदाहरण सोने के प्रसिद्ध व्यापारी सेसिल रोड्स का है जिन्होंने मृत्यु के समय ये अंतिम वाक्य लिखे थे। "इतना काम करना था, इतना कम काम हुआ, विदा।" दूसरी आदत जिससे सावधान रहने की आवश्यकता है आलस्य है। इसमें कभी मनुष्य अच्छा समय आने की व्यर्थ प्रतीक्षा करता रहता है, यथार्थ कार्य की जगह मधुर कल्पनाएं किया करता है, लापरवाही और सुस्ती में समय नष्ट करता रहता है। कभी कभी यह किसी किसी काम के बन चुकने वा हो जाने के कारण मनुष्य में उत्पन्न व्यर्थ के आत्मसंतोष वा आत्मश्लाघा से भी उत्पन्न होता है, मानो कुछ प्रगति होने पर नदी की बहती धारा में कुछ दूर डांड़ चलाने के बाद डांड़ों पर हाथ रक्खे चुप बैठा जा सकता हो। जब कोई डांड़ खेने वाला कुछ दूर डांड़ खे ले जाय तो वह ज्यों ही डांड़ खेना बन्द कर दे त्यों ही फिर पीछे की ओर नाव का बह जाना बहुत ही सुगम होता है। एक विद्वान का कथन है कि "आत्मश्लाघा वा उससे

उत्पन्न आलस्य से बढ़कर मनुष्य की उन्नति का शत्रु कोई दूसरी वस्तु नहीं है।" प्रत्येक व्यक्ति को आलस्य के स्वभाव का प्रतिरोध करने के लिए अपने में उद्योग का स्वभाव उत्पन्न करना चाहिए। वर्बादी को रोकने और सुस्ती से छुटकारा पाने का एक मात्र उपाय यही है कि हमारे सामने सदा कोई काम हो और हम उसमें सदा संलग्न रहें। हमें यह सदा ध्यान में रखने की आवश्यकता है कि "आलस वैरी बसत तनु, सब सुख को हर लेत" भर्तृहरि का सुन्दर उपदेश भी ग्राह्य है कि:--

आलस्योहि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुर्यं कृत्वा नवासीदति ॥

"मनुष्य के शरीर में आलस्य ही बड़ा भारी शत्रु है, और उद्यम के समान कोई बन्धु भी नहीं जिसके करने से दुख नहीं मिलता।"

भगवान बुद्ध का भी कथन है कि—

यो च वस्ससतं जीवे कुसीतो हीनवीरियो।
एकाहं जीवितं सेय्यो वीरियमारभतो दड्हं ॥

"आलसी और अनुद्योगी के सौ वर्ष के जीवन से दृढ़ उद्योग करने वाले के जीवन का एक दिन श्रेष्ठ है।"

इसीलिए आलसी पुरुषों की उपमा सूअर से देकर भगवान बुद्ध ने निर्देश किया है:—

मिद्धी यदा होति महग्घसो च निद्दायिता सम्परिवत्तसायी।
महावराहो 'व निवापपुट्ठो पुनप्पुनं, गब्भमुपेति मन्दो ॥

"जो पुरुष आलसी, बहुत खाने वाला, निद्रालु, करवट बदल बदल सोने वाला तथा दाना देकर पले मोटे सूअर की भाँति होता है, वह मन्द बार बार गर्भ में पड़ता है।"

तीसरा अनिष्टकारी स्वभाव आत्मरंजन है जिसमें मनुष्य को चटोरपन, लालसा, और आकांक्षा की वृत्तियों द्वारा केवल अपनी इच्छा और सुविधा की चिन्ता करने की प्रवृत्ति होती है। और इन स्वाभाविक किन्तु ऐन्द्रिक प्रवृत्तियों की पूर्ति करने के प्रयत्न में संलग्न होने से आसान कोई दूसरी बात नहीं हो सकती। चटोरपन शीघ्र ही इन्द्रियपरायणता और खाऊपन रूप में हो जाता है, आकांक्षा शीघ्र ही दूसरों के सुखों और अधिकारों तक को कुचलने के लिए तैयार हो जाती है, और लालसा कठोर होकर लोभ हो जाती है जो द्रव्य पर ऐसी जड़ जमाती है कि उसे तनिक भी ढीला नहीं किया जा सकता।

हमने पहले ही कहा है कि बुरी आदतों का यथार्थ प्रतिकार कुछ अच्छी आदतों का डालना है। उदाहरणार्थ जीवन के साधारण और मानसिक क्षेत्र में तीन बहुत बड़ी सहायक आदतें हैं। वे हैं—एकाग्रता, परिपूर्णता और दृढ़ता वा अध्यवसाय। इन तीन स्वभावों ने कभी कभी महान विद्वान्, आविष्कारकों और वक्ताओं की उत्पत्ति ऐसे पुरुषों से की है जिनमें नैसर्गिक योग्यता बहुत कम मात्रा में थी।

एकाग्रता शब्द ही से मालूम पड़ता है कि इसका अर्थ किसी विषय पर ध्यान एकत्र करना है जिसमें मानसिक शक्ति का अप-

व्यय रोका जाय और ध्यान की सारी शक्ति आतशी शीशे की किरणों की तरह एक विन्दु पर उस विषय पर ही लाई जाय जो मस्तिष्क के सम्मुख हो।

परिपूर्णता दिखावटीपन का शत्रु है क्योंकि यह ऊपरी तल की तह में गहराई तक जाती है और किसी अभिलाषित लक्ष्य के पूर्ण होने तक अनुगमन करती है। बहुत से लोग वस्तुओं की ऊपरी तह पर ही घूमते रह जाते हैं और कोई फल नहीं प्राप्त करते। कुछ लोग ऊपरी देख-भाल से सन्तुष्ट न होने पर जहाँ तहाँ गहराई तक छानबीन करते हैं, तह तक पहुँचते हैं और छिपी नसों और गुप्त धनकोष को ढूंढ़ निकालते हैं। किसी पुस्तक को एक ही बार इस तरह पढ़ लेना अच्छा है कि उसका पूर्ण पांडित्य प्राप्त हो जाय और उसे दुबारा न पढ़ना पड़े। इन स्वभावों से ही मिलता जुलता दृढ़ता या अध्यवसाय का स्वभाव होता है जिसमें मनुष्य अंत तक उद्योग में सदा संलग्न ही रहता है।

इस अध्याय के अन्त में मूल लेखक ने तीन धार्मिक स्वभावों की चर्चा की है। पहला धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन का और दूसरा एकान्त ईश्वर-प्रार्थना का है। इनके विषय में बहुत कुछ लोगों ने लिखा और कहा है। तीसरा स्वभाव परोपकार का है। दूसरों के उपकार में लीन रहना मनुष्य की अपनी आन्तरिक शुद्धि के लिए अमोघ अस्त्र है। इससे बढ़ कर आत्म-शुद्धि पर दूसरी किसी भी बात का प्रभाव नहीं पड़ता। दूसरे की सुख-वृद्धि की चिन्ता

से मनुष्य का अन्तःकरण उल्लसित भी होता है। दूसरों के कल्याण की अभिवृद्धि को करने के प्रयत्न में उनके संसर्ग में आने से हमारा कल्याण इसी प्रकार हो सकता है जिस प्रकार अस्वस्थ शरीर में व्यायाम से शरीर के सभी अवयवों में नीरोगता और स्वास्थ्य का संचार होता है। अतएव हमें एक भी दिन दूसरों की हित-चिन्ता के बिना न व्यतीत करना चाहिए। चाणक्य नीति का श्लोक परोपकार की इस प्रकार प्रशंसा करता है:—

परोपकरणं येषां जागर्ति हृदये सताम्।
नश्यन्ति विपदस्तेषां सम्पदः स्युः पदे पदे॥

"जिन सज्जनों के हृदय में परोपकार जागता है, उनकी विपत्ति नष्ट हो जाती है, उन्हें पद पद पर सम्पत्ति प्राप्ति होती है।"

किन्तु इतना ही नहीं, परोपकार वृत्ति का जिन पुरुषों में अभाव है, वे अधम भी हैं, कर्तव्य-पथ से भ्रष्ट निकृष्ट कीट भी हैं। योगिराज भर्तृहरि का अमर वाक्य हमें सदा ही स्मरण रखना चाहिए:—

जातः कूर्मः स एकः पृथुभुवनभरायार्पितं येन पृष्ठं
श्लाघ्यं जन्म ध्रुवस्य भ्रमति नियमितं यत्र तेजस्विचक्रम्।
संजातव्यर्थपक्षाः परहितकरणेनोपरिष्टान्न चाधो
ब्रह्माण्डोदुंबरांतर्मशकवदपरे जंतवो जातनष्टाः।

"कच्छप भगवान बड़भागी हुए जिन्होंने अपनी पीठ पर सब जगत का भार लिया। फिर ध्रुव का जन्म सार्थक हुआ, जिसमें ग्रह-नक्षत्र आदि जुट कर दिन रात चलायमान हैं। जिसने पराये का उपकार न किया वह न तो कच्छप के समान नीचे गया और न ध्रुव के समान ऊपर गया, वह ब्रह्मांड रूपी गूलर के फल में रहने वाले कीड़े के सदृश व्यर्थ हुआ।"

कबीर ने परोपकारी सज्जनों की प्रशंसा किन मनोहर शब्दों में की हैः—

> बृछा फले न आपको, नदी न पीवे नीर।
> पर स्वारथ के कारणे, सन्तन धरा शरीर॥
> तरवर सर वर संतजन, चौथे वरसे मेह।
> परमारथ के कारणे, चारों धारे देह॥

किसी कवि का भी कथन उचित ही है किः—

> जो पराए काम आता धन्य है जग में वही।
> द्रव्य ही को जोड़ कर कोई सुयश पाता नहीं॥
> पास जिसके रत्नराशि अनन्त और अशेष है।
> क्या कभी वह सुर धुनी के सम हुआ सलिलेश है॥

११—संगति का नियमन

प्रत्येक मनुष्य उसी प्रकार का होता है जैसे लोगों की वह संगति करता है। एक विद्वान् का कहना है "तुम जिस तरह की संगति में रहते हो, मुझे बता दो तो मैं बता दूंगा कि तुम किस तरह के मनुष्य हो" और एक दूसरे विद्वान् का कथन है कि "तुम जिन लोगों का आदर करते हो, उन्हें मुझे बता दो तो अन्य सब बातों से अधिक उससे ही मैं जान जाऊँगा कि तुम कैसे आदमी हो।" किन्तु इन दोनों से भी अधिक एक तीसरे विद्वान का कथन है कि "यदि तुम विचारवानों का साथ करोगे तो विचारवान बनोगे किन्तु मूर्खों का साथ करोगे तो तुम विध्वंस को प्राप्त होगे।"

इन वाक्यों से चरित्र-निर्माण पर संगति वा संगी-साथियों का प्रभाव हमें ज्ञात हो सकता है। सर्वाधिक महत्व की तीन गम्भीर बातें हैं। पहली, संगति हम पर आदान प्रदान और परामर्श द्वारा प्रभाव डालती है; दूसरी भले वा बुरे अभिप्राय के लिए सहयोग और संयोग द्वारा, तीसरी स्वयं हमारे संगी-साथियों के सदृश हो जाने और एक रूप बनने द्वारा।

यह स्पष्ट है कि हमारे साथी हमारे विचारों, भावों और उद्देश्यों को निरूपित और इंगित करते हैं। जिन व्यक्तियों की

हम संगति करते हैं, वे स्वभावतया उन बातों को हमें प्रदान करते हैं जो उनके प्रमुख विचारों को आच्छादित किए रहती हैं और जो उनके इरादों और निश्चयों को प्रभावित करती हैं। संगति का भाव ही विचारों और भावनाओं का परस्पर आदान-प्रदान प्रगट करता है और मित्रता जितनी ही दृढ़ होती है, उतना ही पूर्ण आदान-प्रदान होता है। इस कारण जो वस्तु हमारे चुने हुए मित्रों पर अधिकार जमाए होती है और उन्हें नियन्त्रित करती है, वह न्यूनाधिक हमें भी प्रभावित करेगी। उनका मस्तिष्क अपने संसर्ग में आने वाले अन्य मस्तिष्कों को थोड़े वा बहुत परिमाण में प्रलुब्ध और विचलित कर देगा वा स्फूर्ति प्रदान करेगा और ऊँचे उठाएगा; और दृढ़ व्यक्तित्व के कारण खड़ी की हुई रोकें भी इन दृढ़ मैत्री की संगतियों में पार कर ली जायेंगी वा मस्तिष्क का मस्तिष्क के अभ्यासयुक्त सम्पर्क से वे बाधाएँ टूट फूट जायँगी वा अलग कर दी जायँगी।

उसी प्रकार यह भी स्पष्ट है कि निकट संपर्क सहयोग और संयोग द्वारा भले वा बुरे के लिए हमें प्रभावित करते हैं। रस्से कई रस्सियों के बटने से बनाए जाते हैं। पृथक पृथक वे रस्सियां एक झटके को भी सहन नहीं कर सकतीं, किन्तु उन्हीं के बटने से बने रस्से से हाथी भी बांधा जाता है। दूसरों के साथ दृढ़ सम्पर्क का सबसे अधिक सुविधाजनक वा असुविधाजनक परिणाम उस संयोग स प्राप्त बल है और वह बल सर्वोत्तम अभिप्रायों की पूर्ति में लग सकता है वा जघन्य कुचक्रों की पूर्ति

में। ऐसे सम्मिलन में निर्बलता शक्ति में लुप्त हो जाती है। और उसका परिणाम काम करने की संयुक्त शक्ति होता है, जिससे कभी कभी भारी कार्यों की सिद्धि का भरोसा होता है। निर्भय और साहसी व्यक्ति के संपर्क से डरपोकपन भी साहस पूर्ण हो जाता है; हिचकिचाहट दृढ़ निश्चय रूप में बदल जाती है, अविश्वास विश्वास बन जाता है। वा इसके विपरीत विश्वास संदेह रूप में लुढ़क जाता है।

इसी प्रकार तीसरा परिणाम सदृश वा तद्रूप हो जाना है। इसमें कोई संदेह नहीं कि हम सदा अपने विचारों के पदार्थ में तद्रूप वा एक रूप होते जाते हैं जो हमारी सम्पूर्ण काया में अपने गुणों को ओत-प्रोत कर देते हैं तथा चरित्र, आचार और भाग्य का निर्माण करते हैं। यह पूर्णतया सत्य है कि बुद्धिमान वा मूर्ख का संसर्ग हमें बुद्धिमान या मूर्ख ही बनाता है। हम जिनकी स्वभावतया संगति करते हैं उन्हीं के समान हम अनजाने वा इच्छा पूर्वक हो जाते हैं।

यह सत्य चार मुख्य दिशाओं में व्यक्त होता है: पहली, मानसिक रूप से, हमारी धारणाओं को स्फूर्ति प्रदान कर वा भ्रष्ट कर; दूसरी, हार्दिक रूप से, हमारी अनुरक्ति और आसक्ति के पदार्थों तथा धार्मिक विश्वास के रूप को भी निश्चित कर; तीसरी, नैतिक रूप से, नैतिक विवेचनात्मक शक्ति और चेतना को प्रभावित कर और नैतिक स्थिति को ऊंचा वा नीचा कर;

चौथी, हमारी संवेदन-शीलता वा बोध-शक्तियों पर, उन्हें सुकुमार रख वा स्थूल और भद्दी बनाकर।

अत्यधिक सधे हुए और विज्ञ मस्तिष्क के निकट सम्पर्क में आना बहुत बड़े सौभाग्य की बात है। इससे विचारों का उत्तम स्वभाव बनता है। गम्भीर और सच्चे छात्रों की प्रगाढ़ मैत्री से प्रायः अध्ययन-शील खोज और अनुसंधान की वृत्ति-जागृत होती है, क्योंकि दार्शनिक, आविष्कारक वा वैज्ञानिक भद्दड़ मस्तिष्कों में भी सृष्टि की शक्तियों और रूपों की समीक्षा करने की जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं, कवि कल्पना शक्ति उत्ते-जित करते हैं और रुचि का परिष्कार करते हैं; और न्याय के आचार्य हमारी तर्क शक्ति को विस्तृत करते हैं।

हम सब का अधिकांश नैतिक जगत में अनुभव किया हुआ संगति का यह प्रभाव ही है, क्योंकि नैतिक प्रकृति मानसिक की अपेक्षा अधिक सुगमता से प्रभावित होती है। निर्मल, सुकृती और पवित्रात्मा की संगति का परिणाम कल्याणकर के बजाय कुछ दूसरा हो ही नहीं सकता। ऐसे प्रभाव के आधीन हमारी विचार,-धाराओं के मार्ग संभवतः निर्मल ही होंगे और स्रोत उज्ज्वल होगा; किन्तु पापात्मा और धूर्त की संगति स्वभावतया ही हमारी काया में अपने मलीन और अपवित्र विचार-स्रोत प्रवाहित करती है।

प्रकृति-विज्ञान की खोजों से रंग अनुकरण करने की बात ज्ञात हुई है। घोंघे, पत्ती, रेंगने वाले जानवर और कीड़े मकोड़े

अपने पास के पदार्थों का रङ्ग ग्रहण करते देखे गए हैं, कुछ जंतु तो पास की वस्तुओं का रूप और आकार भी ग्रहण कर लेते हैं। इसी प्रकार मनुष्य भी अनुकरणशील प्राणी है, वे अनजाने ही अपने चारों ओर के वातावरण का नैतिक और मानसिक स्वरूप से रंग ग्रहण करते हैं जिससे उनमें स्वाभाविक वातावरण प्रतिभासित होता है।

इस सम्बन्ध में हम अपने उत्तरदायित्व से भाग नहीं सकते। ऐसी संगतियाँ होती हैं जो प्रबल रूप से हमारी प्रकृति को ही प्रभावित कर देती हैं और वे अन्य अच्छी वा बुरी संगतियों के आने का मार्ग भी खोल देती हैं, चरित्र का गठन करने में सहायक होती हैं जो स्थायी रूप से बना रह जाता है।

कुछ पौदे ऐसे पाए जाते हैं जो उगते ही तत्क्षण विषमय हो जाते हैं। इसी प्रकार यह निश्चित बात है कि दुरात्मा, अधार्मिक, नास्तिक और पाखंडी व्यक्ति के पृथ्वी पर पग पड़ते ही दोष और पाप प्रचुर मात्रा में उत्पन्न हो आते हैं।

हम निस्संदेह ही, लाभकारी वा हानिप्रद प्रभावों का प्रतिकार कर सकते हैं। एक ही लंकापुरी में रहनेवाले सगे बन्धु रावण और विभीषण सरीखे दो विभिन्न प्रकार के गुणों वाले व्यक्तियों का दृष्टान्त हम लोगों के सम्मुख है। ये दोनों पात्र हम लोगों को सतत उपदेश देते हैं कि केवल बाह्य स्थितियों से, हृदय में सहानुभूति रक्खे बिना मनुष्य धर्म वा अधर्म में तद्रूप नहीं हो जाता। इसी प्रकार मनुष्य पाप को रोक कर पराभूत कर सकता

हैं। क्यों कि सहानुभूति की मात्रा ही प्रत्येक स्थिति में यह निश्चित करने वाली होती है कि किस हद तक उसमें एकरूप हुआ जा सकता है।

संगति का प्रभाव मनुष्य पर इतना अधिक होता है कि उसके मुख से निकले शब्द, उसकी बोली तक उसकी संगति का भेद प्रकट कर देती है। उसके अध्ययन किए ग्रन्थ, उसको अभिभूत करने वाली रुचि, भावुकताएं और पसन्दगी भी प्रकट कर देते हैं।

कबीर ने ठीक ही कहा है:—

बोलत ही पहचानिए, साहु चोर को घाट।
अन्तर की करनी सबै, निकसै मुख की बाट॥

एक विद्वान का कथन है कि "स्मृति शक्ति एक जाल है जिसमें से होकर सैकड़ों मील पानी बिना रुके बह जाता है किन्तु मछली जाल के छेद में फँस जाती है।" संगति की शक्ति इतनी अधिक होती है कि मनुष्य संज्ञाहीन हो जाता है, उसको क्रूरता तक का बोध नहीं रह जाता।

हम संगति की सावधानी रखने की आवश्यकता शब्दों द्वारा बहुत अधिक नहीं प्रकट कर सकते। चरित्र और भाग्य को निर्मित करने वाली इससे बढ़कर दूसरी क्या बात हो सकती है? पवित्रात्मा और महान पुरुषों का संसर्ग मनुष्य को पवित्रता और महानता प्रदान करने में सहायक होते हैं। कोई भी आस्तिक व्यक्ति सबसे अधिक आध्यात्मिक, शिष्ट, नीति-परा-

यश, और भगवद्भक्त जनों की मंडली में जाने के अभ्यास से अधिक उत्तम कार्य नहीं कर सकता। सब बातों की अपेक्षा यह चरित्र को दृढ़ और प्रभाव को अभिवृद्ध करने में अधिक कार्यकर होगा।

अन्त में भगवान की सृष्टि-प्रकृति की गोद में क्रीड़ा करना और मनुष्य की सर्वोत्तम कृति-ललित कला का आनंद लेना हमारे लिए सुखप्रद है। विशुद्धतम रूप में सौन्दर्य का आनन्द लेने में लीन होना मनुष्य को ऊंचा उठाने वाला है।

लूथर प्रकृति और खुली हवा का पुजारी था। उसके नेत्र पक्षियों के अवलोकन में आनन्द का लाभ करते थे और कान उसके कलरव का। भगवान बुद्ध का हृदय मनुष्य और अन्य प्राणियों के प्रति असीम सहानुभूति से ओतप्रोत था और प्रत्येक जीवधारी के प्रति उमड़ पड़ता था। उसीके परिणाम-स्वरूप आज बहुसंख्यक प्राणी उन्हें भगवान का अवतार मान उनके मतानुयायी बने हुए हैं। भारतवर्ष के ऋषि मुनि अरण्य-वास कर वन के पशुपक्षियों को ही सहचर बनाकर ब्रह्मज्ञान का इतना गहन विवेचन कर सके थे।

१२—आमोद-प्रमोदों का नियमन

सभी स्वस्थ प्राणियों की साधारण स्थिति आनन्द है, पूर्ण स्वास्थ्य का सम्बन्ध निश्चयतया पूर्ण उल्लास से होना चाहिए। भौं चढ़ाना और त्यौरी बदलना पाप के चिह्न और दाग हैं। शुद्धता प्रसन्नचित्त होती है और निर्मलता जाज्वल्यमान निर्झर है। ईश्वर ने मनुष्य को ऐसे लोक के लिए रचना की जहां सुख का साम्राज्य रहे। इसकी सभी प्रत्याशाओं पर शैतान का पग पड़ने तक यह भव्य था। कुछ लोग अपनी निराशावादी वृत्ति के कारण इस मनहूस धारणा का प्रचार करते हैं कि ईश्वर मनुष्य के सुखों से अधिक प्रसन्न नहीं होता और जब मनुष्य अपनी अपनी सुन्दर बातों पर प्रसन्न होने लगते हैं तो उनको अत्यधिक सुखी होने से रोकने के लिए परमेश्वर उन पर कुछ विपत्ति ला पटकता है।

भगवान की यह आकांक्षा कभी भी नहीं कि यह संसार एक मठ के रूप में बदल जाय। संसार में, विशेष कर, युवावस्था में कुछ ऐसी बात होती है जो हृदय को अठखेलियां खेलते हुए सोते की तरह हृदय को आनन्द से तरंगित कर देती है। एक विद्वान का वचन है "हे युवावस्था के युवक, आनन्द मनाओ, अपने हृदय से युवाकाल में अपने को उल्लसित बनाओ, अपने हृदय की अवस्था और नेत्रों की दृष्टि की छाया में चलो,

किन्तु यह याद रक्खो कि इने सब बातों के लिए तुम्हें भगवान के सामने उत्तर देना पड़ेगा।" इन शब्दों से व्यक्त होता है, कि आमोद अनुचित नहीं हैं किन्तु उनको संयमित रखने की आवश्यकता है।

हम यहां पर आनन्द-उपभोग को नियंत्रित करने वाले कुछ सिद्धान्तों की चर्चा करना चाहते हैं। हम यह बात स्वीकार कर लेते हैं कि जो बात स्वयं ही कलुषित है, वह कुछ समय के लिए किसी प्रकार के सुख की उपलब्धि करने पर भी 'दूषित आमोद' की गिनती में ही आसकती है। हमें यह बात माननी पड़ती है कि इस प्रकार के आमोद मधु भरे ऐसे प्याले की भाँति हैं जिसकी पेंदी में हलाहल विष भरा हो। हम इस अध्याय में उन पाप पूर्ण आमोदों की चर्चा छोड़ सकते हैं। हमारा मुख्य उद्देश्य तो निर्दोष आमोदों के औचित्य पर विचार करना है।

हमारी प्रकृति विश्राम, अवकाश, मनोविनोद की आवश्यकता अनुभव करती है। भगवान ने रात की नींद रूप में यह आवश्यकता स्वीकार कर ली है, मनुष्य भी काम करने के घंटे कम कर, और बड़े बड़े नगरों में उद्यान आदि रूप में प्रत्येक सार्वजनिक आमोद-सामग्री की प्रचुर मात्रा में व्यवस्था कर इसे अधिकाधिक अंगीकार करता जा रहा है। वास्तव में सार्वजनिक आमोदों के विरुद्ध आवाज़ उठाना उसी प्रकार का प्रयत्न होगा जैसे कोई समुद्र के ज्वार को झाड़ू से हटा देना चाहे। जो बात कलुषित हो वा जिसका झुकाव हानि पहुँचाने की ओर हो,

उनका विरोध होना तक ठीक है। परिवार और समाज का यह कर्त्तव्य है कि वह आमोद के हितकर, निर्दोष और सस्ते साधनों को प्रोत्साहित ही न करे, बल्कि उसकी व्यवस्था भी करे।

इतनी बात मान लेने पर हमें उसमें इतना और जोड़ लेना पड़ेगा कि यदि आमोदों को भ्रष्ट नहीं होने देना है तो इन्हें संयमित अवश्य रखना चाहिए।

निर्दोष आमोद के चार लक्षण हैं:—पहला, यह क्रियाशील होता है, अर्थात् नितान्त आलस्य के स्थान पर यह विभिन्न प्रकार के कार्यों में विश्राम पाता है; दूसरा, यह नव शक्तिप्रद होता है अर्थात् यह क्षीण शक्ति को पुनः प्राप्त कराने का साधन होता है; तीसरा, यह उन्नतिप्रद होता है, यह भ्रष्ट करने के बजाय उन्नत बनाने की ओर प्रवृत्त होता है; चौथा, यह नैतिक होता है, यह उच्च तल पर पहुँचाता है और केवल विनोद के लिए ही अंतःकरण का गला नहीं घोंटता। ये सिद्धान्त इतने स्पष्ट हैं कि इनकी साधारण चर्चा कर देने से अधिक व्याख्या की आवश्यकता नहीं।

सिसेरो नाम के विद्वान का कथन है कि अवकाश की घड़ी का भी कुछ लाभदायक उपयोग होना चाहिए। ईश्वर ने हम लोगों को ऐसा बनाया है कि मस्तिष्क के दूसरी दिशा में लगाने से ही हमलोगों का सर्वोत्तम विश्राम होता है, और परिश्रम भी उस समय दिलबहलाव कर सकता है जब वह आमतौर पर

किए जाने वाले काम से भिन्न प्रकार के काम में लगाया गया हो।

आमोद को केवल आमोद की ही दृष्टि से ग्रहण करना निश्चय ही भारी भूल है। आमोद वा मनोविनोद परिश्रम की थकान को कुछ क्षण के लिए भुला देने के लिए होता है, क्षीण शक्ति की पूर्ति के लिए होता है। ज्योंही आमोद स्वयं ही लक्ष्य बन जाता है, वह भ्रष्ट हो जाता है। यह समय और शक्ति बर्बाद करता है और हमें विनोद के अधम रूपों की ओर मोहित करता है, जो हमें निकृष्ट पद पर गिरा देता है जिससे हम पतित हो जाते हैं, इस प्रकार आमोद केवल तमाशा हो जाता है, जो वक्त को तेज़ी से काटने का एक ढङ्ग है, मानो समय की भगान पहले ही से यथेष्ट तीव्रगति की नहीं है।

हमें दूसरों के आमोद को सदा अपने ही भाव से नहीं देखना चाहिए, क्योंकि जिस बात से हमारा मनोविनोद हो सकता है उन्हीं से दूसरों को भी सदा आनन्द की उपलब्धि नहीं हो सकती है। लोगों की रुचि भिन्न भिन्न होती है और लोगों की रुचि पर ही आमोद का होना निर्भर है। एक लेखक ने उन लोगों की भर्त्सना की है जो दूसरों को उचित आमोद से भी वंचित करना चाहते हैं क्योंकि उन्हें स्वयं उनमें कोई आनन्द प्राप्त नहीं होता। उसने एक पुस्तक में एक बिल्ली और मुर्गी का वर्णन किया है जो केवल अपने को ही चतुर व्यक्ति होने का दावा करते हैं, वे बत्तक की इसलिए खूब हँसी उड़ाते हैं कि वह पानी

पर तैरने और उसमें डुबकी लगाने से प्रेम करता है, किन्तु वे इन बातों को पागलपन का लक्षण समझते हैं।

आमोद की हातावन्दी करने का पहला नियम यह है कि यह उन्नतिप्रद और ऊँचा उठाने वाला होना चाहिए तथा विवेकपूर्ण बुद्धि, परिष्कृत रुचि और सच्ची भावना के अनुकूल होना चाहिए। मनुष्य इतना उच्च प्राणी है कि उसे भद्दे ढङ्ग के विनोद में पड़ना उचित नहीं है। प्रकृति के साथ साहचर्य सदा ऊँचा उठाने वाला होता है। भगवान की सृष्टि में मनुष्य असीम विभिन्नताओं को पा सकता है, संसार एक विशाल विनोद-वाटिका है और कला भवन है, वैसे ही मूर्ति कला, चित्र कला, स्थापत्य, तथा संगीत आदि मानव कला के उच्चतम रूप हैं। ये मनुष्य की पूर्ण गति को उत्थित करती हैं।

विवेक पूर्ण और मनोरंजक वार्तालाप मनोविनोद के सर्वोत्तम उपायों में से एक है जिसमें आनन्द का उपदेश के साथ संयोग हो, किन्तु जिह्वा के सभी कार्यों और उपयोगों पर नियंत्रण अवश्य ही होना चाहिए। सच्चा वार्तालाप एक-पक्षीय नहीं होता। यह केवल आलाप ही नहीं होता। इसमें पारस्परिकता सन्निहित होती है। वार्तालाप में दो व्यक्तियों के कर्म उसी प्रकार होते हैं जिस प्रकार चक्की के दो पाटों के काम। कोई व्यक्ति सुन्दर विचार वा भावना व्यक्त करने में अधिक समर्थ हुए विना उसे व्यक्त ही नहीं कर सकता और न कोई विचार वा भावना सुनने वा ग्रहण करने में अधिक समर्थ हुए बिना उसे सुन वा

ग्रहण कर सकता है। और जितना ही अधिक विवेचनात्मक वार्तालाप होगा उतना ही अधिक पारस्परिक आनन्द और लाभ की उपलब्धि होगी। इसमें सीखने की आवश्यकता नहीं हो सकती, बुद्धि का बुद्धि से इसी प्रकार टक्कर होना चाहिए जिस प्रकार चिनगारी उत्पन्न करने के लिए चकमक पत्थर का फौलाद से टक्कर होता है। उभयलिंगों के व्यक्तियों के परिष्कृत और उन्नत समागम से अधिक विशद लाभप्रद कोई बात नहीं हो सकती। कोई भी युवक वा युवती ऊँची उठाने वाली शक्ति का अनुभव किए विना परस्पर एक दूसरे से निर्मल सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकते।

भगवान ने इस प्रकार के सामाजिक सम्पर्क को मानव कल्याण और आह्लाद दोनों का उच्चतम स्रोत वनाया है किन्तु शैतान ने, जो ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट रचनाओं को सदा भ्रष्ट करने में लगा रहता है, उभयलिंग के पुरुषों के समागम को विषाक्त और भ्रष्ट करने में कुछ भी उठा नहीं रक्खा है।

गायन और वादन दोनों प्रकार के संगीत से वढ़कर और अधिक उन्नतिप्रद कोई भी आमोद नहीं है। एक लकड़ी के टुकड़े पर तनी हुई तांत पर घोड़े की पूंछ के बालों से रगड़ने पर जब सारंगी में वह मधुर स्वर-लहरी उत्पन्न होती है जो मनुष्य के मधुरतम राग को भी मात करती है तो वह एक अद्भुत वस्तु वन जाती है वा जब सितार के तार अंगुलि-स्पर्श पर

कंपित होकर सुन्दर स्वर-लहरी उत्पन्न करते हैं तो स्तब्ध कर देते हैं।

दूर-दर्शक वा सूक्ष्म-दर्शक यंत्र की सहायता से प्रकृति का अध्ययन बड़ा कौतूहलोत्पादक होता है। यात्रा से भी प्रकृति और कला के अध्ययन द्वारा अनेक प्रकार के आनन्दोपभोग की झड़ी लग जाती है। बच्चों के साथ खेल कभी कभी वृद्धों में भी युवापन का अनुभव कराता है। सार्वजनिक भाषण यदि गंवारूपन और भँड़ैती से भ्रष्ट न हों तो प्रचुर विनोद और अधिक उत्कर्ष प्रदान कर सकते हैं।

किन्तु हम फिर इस बात पर जोर देना चाहते हैं कि लगभग सभी आमोदों, विनोद-सामग्रियों पर नैतिक प्रहरी सावधानी पूर्वक अवश्य ही रखना चाहिए। आमोदों के नियमन के लिए तीन मुख्य प्रतिबंधात्मक नियम यहां दिए जाते हैं। पहला, व्यापक रूप से मनुष्य के पूर्ण चरित्र पर क्या प्रभाव पड़ता है; दूसरा, व्यापक रूप से दूसरों पर क्या प्रभाव पड़ता है; और तीसरा, यह कि व्यापक रूप से आनन्द में इच्छा शक्ति को पाशबद्ध करने और फंदे में डालने की प्रवृत्ति उसमें है वा नहीं। हम समझते हैं कि ये सिद्धान्त सर्वांगीण हैं और सच्चाई के साथ अनुसरण करने पर कोई बात छोड़ते नहीं। यदि कोई आमोद व्यापक रूप से मेरे लिए सहायक नहीं है, वा व्यापक रूप से दूसरों के लिए सहायक नहीं है तो वह त्याज्य है। यदि इसका साधारण परिणाम मेरे चरित्र की स्थिति निम्न करना

है, वा यदि यह दूसरों के सम्मुख उदाहरण की भांति रक्खे जाने पर दुर्बल को भी पथविचलित करने वाला है तो इसको पराभूत करना मेरे कर्तव्य और विशेषाधिकार का एक अंग है। हम किसी ऐसे आनन्द का मोल चुकता करने में समर्थ नहीं हो सकते जो किसी भी मात्रा में अधम हो वा जिसमें लिप्त होने से हम नीचे गिरते हों, और न अपने लिए कोई ऐसा आमोद ग्रहण करने में समर्थ हो सकते हैं जिसका प्रभाव दूसरों पर हानिकर वा संदिग्धात्मक भी हो। इसलिए यदि किसी आमोद का प्रभाव हम पर वा दूसरों पर हितकर नहीं है तो यह कहना पर्याप्त नहीं कि वह आन्तरिक वा स्वाभाविक रूप से कलुषित नहीं है।

अनेक संदिग्धात्मक आमोदों के लोकप्रिय रूपों की जाँच करने के लिए इसे हमें ठीक कसौटी समझते हैं। कदाचित हम आधुनिक सभ्यता के छः प्रचलित आमोदों की चर्चा करने का साहस कर सकते हैं जिसे एक लेखक ने दुष्ट व्यक्तियों का मुहर किया हुआ निश्चित अधिकार वतलाया है। वे हैं—ताश के खेल, जुआ के खेल, सरकस, घुड़दौड़ थिएटर, और नृत्य। हम लोगों के युग में नैतिक विचार इतने ढीले हो गये हैं कि इनमें धार्मिक व्यक्तियों को भी सन्देह मालूम पड़ने लगा है कि ये किस हद तक त्याज्य हैं, किन्तु एक बात स्पष्ट है कि आप इन विनोद-लिप्साओं में उच्चतम कोटि की पवित्रता और उपयोगिता कभी भी नहीं पा सकते। यदि उन पर उचित पहरेदारों की नियुक्ति हो अति होने

और विषाक्त प्रकृति से सुरक्षित रक्खे जायँ तो यह संभव है कि इनमें से कुछ ऊँचा उठाने वाली वा कम से कम निर्दोष हो जायँ। किन्तु इसमें ऐतिहासिक तथ्य रह ही जाता है कि ताश के खेलों का शताब्दियों से चालाकी और धूर्तता का सम्बन्ध रहा है और जुआ के खेल से जुआ खेलने की उत्तेजना मिलती रही है, उनसे अनेक परिवारों का संहार होता आया है. महाभारत का युद्ध उसका ज्वलन्त प्रमाण है, सरकस का दर्शकों पर भ्रष्ट परिणाम पड़ता है, घुड़दौड़ में गिरह-कट, चोर और बदमाशों का अड्डा जमा रहता है, थिएटर और सिनेमा सदाचार की पाठशाला हो सकता था, किन्तु कभी बनाया नहीं जा सका; और आज कल का पाश्चात्य नृत्य नैतिक पवित्रता के लिए फंदा है।

आमोद के इन प्रकारों में से प्रत्येक के लिए एक-एक पृथक ग्रंथ की आवश्यकता हो सकती है, किन्तु पुस्तक के मूल लेखक ने लिखा है कि "पचास वर्षों तक उनका प्रभाव देखने के बाद हमारी बहुत ही पक्की राय यह है कि समाज की ये व्यवस्थाएं नैतिकता और पवित्रता के लिए भारी ख़तरे से भरी हैं और अत्यधिक अनुभव और निरीक्षण के पश्चात उत्पन्न हुई अपनी इस निश्चित, शान्त और ईमानदारी की राय को ले हम इस समय चुप रह रहें हैं और इन विषयों का ईमानदारी से अध्ययन करने वाले अधिक योग्य तथा अधिकारी लेखकों पर इन विषयों पर विस्तृत निबंध लिखने का भार छोड़ रहे हैं।"

मनुस्मृति में व्यसनों की निन्दा की गई है जो व्यर्थ समय काटने के साधन हैं। मनु भगवान ने आदेश दिया है कि 'व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्', अर्थात् व्यसन बड़े विकट होते हैं, उनका प्रयत्नपूर्वक परित्याग करना चाहिए। काम से उत्पन्न दस व्यसन मनुस्मृति में बताए गए हैं:—

मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः॥

"शिकार खेलना, जुआ खेलना, दिन में सोना, दूसरों के दोष का वर्णन, स्त्रियों का सहवास, मद्य का मद, नाचना, गाना, बजाना, और व्यर्थ घूमना ये काम से उत्पन्न दस व्यसन हैं।"

व्यसनों की निन्दा मनुस्मृति में इस प्रकार की गई है:—

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते।
व्यसन्यधोधो, व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः॥

"मृत्यु और व्यसन में व्यसन को ही विशेष कष्ट कहा है, क्योंकि व्यसनी बराबर नीचे ही नीचे गिरता है और अव्यसनी मरने पर स्वर्ग को जाता है।"

सभी आमोदों में अति न होने देना चाहिए। उनमें न्यूनाधिक उत्तेजना होती है जो अधिक समय तक रहने पर दिल हल्का करने के स्थान पर थकान पैदा करती है। आनन्द सहज ही क्षय को प्राप्त होने लगता है और पुनःशक्ति प्रदान करने के स्थान पर क्लान्ति उत्पन्न करने वाला हो जाता है। यदि ईश्वर की इच्छा यह न होती कि हम हँसें तो वह मुख में दो सौ

पचास पेशियां न रक्खे होता जो सब की सब केवल अट्टहास के समय गतिशील होती हैं। और वह प्राणियों में केवल मनुष्य को ही हास्य का गुण न दिए होता; किन्तु साधारण शक्ति के उपयोग में अति हो सकती है और वह कल्याणकर होने के स्थान पर विध्वंसकारी हो सकती है।

कोई भी आमोद का भेद उपहास की अपेक्षा अधिक अतिरंजित होने वाला नहीं है। हँसी में अति हो जाने की विशेष प्रवृत्ति मालूम पड़ती है जिससे यह तत्क्षण निर्दोष नहीं रह जाती और हानिकर हो जाती है तथा अश्रद्धा तथा छिछोरेपन की ओर तक झुक जाती है। स्वाभाविक तुच्छता की सभी प्रवृत्तियां निश्चयात्मक रूप से हानिकर होती हैं। इस कारण हमें गंभीरता की शक्ति और सच्चाई की क्षमता का कभी भी परित्याग नहीं करना चाहिए। गोल्डस्मिथ ने लिखा है; "मूर्खों का समागम हम लोगों को पहले हँसा सकता है किन्तु हमें अन्त में खिन्न बनाने से कभी चूक नहीं सकता।"

दूसरी चेतावनी यहां असंगत नहीं हो सकती। कोई भी आमोद निश्चिंतता से ग्रहण नहीं किया जा सकता जिसके अपने चरित्र और भाग्य-निर्माण पर अन्तिम परिणाम की सावधानी के साथ जांच न कर ली जाय। सर्वसाधारण को, और विशेष कर युवकों को, हल्के और सांसारिक आमोद प्रमोदों को इस आधार पर समर्थन करते देखा जाता है कि वे जब तक युवा हैं तब तक आनन्दोपभोग कर लेना चाहते हैं और उनके

लिए भी समय आएगा जब वे स्वयं उनसे थक जाएँगे और वह उनको गंभीर बनने तथा उन आमोद-प्रमोदों का परित्याग कर देने का यथेष्ट समय होगा।

किन्तु हमें यह न भूल जाना चाहिए कि उसी समय उनका चरित्र स्थायी रूप ग्रहण करता जा रहा है। एक विद्वान ने कहा है कि ऐसे सांसारिक आमोद-प्रमोद मेहराब बनाने के लिए लकड़ी के ढांचे की भाँति हैं। जब मेहराब पूर्ण हो जाता है तो लकड़ी का ढांचा तोड़ दिया जाता है किन्तु उससे मेहराब जो आकार धारण कर लिया होता है वह स्थायी रूप से रह जाता है।" पुस्तक के मूल लेखक ने एक स्थान पर कुंडल बांधे हुए लता देखी जो किसी समय एक पेड़ को आवेष्टित कर घुमाव देती हुई कुंडलाकार ऊपर चली गई थी। वह वृक्ष सूखकर सड़ गल कर नष्ट हो गया था, किन्तु लता को अपरिवर्तनीय रूप प्राप्त हो गया था और वह कभी फिर सीधी नहीं बनाई जा सकती थी। जिन आमोद-प्रमोदों में तुम लिप्त होते हो, थक जाने पर उनका जब तुम परित्याग कर देते हो तब वे तुम्हें अधिक ऊँचे आनन्दों के लिए स्थायी रूप से असमर्थ और उदासीन बना जाती हैं तो उसके क्या लाभ ?

यह एक ऊँचा सिद्धान्त है कि आमोद के लिए ही आमोद में संलग्नता नहीं होनी चाहिए, बल्कि कर्तव्य-मार्गों में आनन्द का अनुभव करने के लिए होनी चाहिए। आनन्द हमारी छाया की तरह है जो पीछा किए जाने पर भागता है किन्तु

जब हम भागते हैं तो वह पीछा करता है। उर्दू का शेर ठीक ही है कि;—

भागती फिरती थी दुनिया जब तलब करते थे हम।
तर्क जब हमने किया तो बेक़रार आने को है॥

अर्थात् "जब हमने संसार की वा संसार के सुख की आकांक्षा रक्खी तो वह दूर भागता रहता था, किन्तु जब हमने उसकी आकांक्षा छोड़ दी तो अब वह हर समय हमारे समीप आने के लिए व्यग्र है।"

कर्तव्य के मार्ग में सदा आनन्द के अनुभव प्राप्त होते हैं। भगवद्मार्ग में जाते हुए मधुर सोतों को पाए बिना हम रह नहीं सकते। उनका ही स्वाद बढ़ाने के लिए कहीं कुछ कटु भी पदार्थ मिलें तो उससे क्या?

हमारी प्रसन्नता में वृत्तियों का बहुत कुछ भाग होता है। प्रसन्न मिजाज़ धन से अच्छा होता है। जिस प्रकार सूर्य कुहरे का नाश करता है, उसी प्रकार यह आपदाओं का लोप करने की अद्भुत शक्ति रखता है।

निःस्वार्थ दान से बढ़कर भी कोई आनन्द है, इसकी खोज अभी तक कोई भी नहीं कर सका है। आत्मरंजन के कोई भी आमोद उस आह्लाद की तुलना कभी नहीं कर सकते जो दूसरों की आवश्यकता और आपदा के समय उनकी सहायता में अपना हाथ बटाने में होती है। इस दान का फल मनुष्य को ही घूम फिर कर फिर मिलता है। एक अरबी भाषा की कहावत है, जिस

का तात्पर्य है कि "नारियल के पेड़ की जड़ में तुम जो पानी डालते हो वह नारियल के दूध रूप में मधुर बनकर तुम्हारे पास लौट आता है जो डालों से स्रवित होता है।"

रहीम ने भी कहा है:—

तब ही लों जीबो भलो, दीबो होय न धीम।
जग में रहिबो कुचित गति, उचित न होय रहीम॥

कबीर का यह सुन्दर आदेश सदा स्मरणीय है:—

हाथ बड़ा हरि भजन कर, द्रव्य बड़ा कछु देय।
अकल बड़ी उपकार कर, जीवन का फल येह॥
दान दिए धन ना घटे, नदी न घटियां नीर।
अपनी आँखों देख लो, यों कथ कहे कबीर॥

किसी विद्वान का कथन है कि--

दानेन भूतानि वशी भवंति दानेन वैराण्यापि यान्ति नाशम्।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानैर्दानं हि सर्वव्यसनानि हन्ति॥

"दान से सभी प्राणी वश में हो जाते हैं, दान से वैरियों का भी नाश हो जाता है। दान से दूसरे भी सगे बन जाते हैं, दान सभी बुराइयों का नाश करता है।

भगवान बुद्ध का भी आदेश है कि:—

न (वे) कदरिया देवलोकं वजन्ति,
बाला ह वे न प्पसंसन्ति दानं।
धीरो च दानं अनुमोदमानो,
तेनेव सो होति सुखी परत्थ॥

"कंजूस देवलोक नहीं जाते; मूढ़ ही दान की प्रशंसा नहीं करते; धीर दान का अनुमोदन कर उसी (कर्म) से परलोक में सुखी होता है।"

यहां पर हम दो छोटी सुन्दर उपदेशपूर्ण कहानियां देकर अध्याय समाप्त करते हैं। एक कहानी एक जादू के चमड़े की है जो धारण करने वाले को मुंहमांगी वस्तु प्रदान करता था किन्तु प्रत्येक लिप्सा पर सिकुड़ता जाता था, यहां तक कि इसने धारण करने वाले का प्राण ही ले लिया। यह जादू का चमड़ा स्वार्थ-वृत्ति है जो प्रत्येक इच्छापूर्ति पर उसमें लिप्त होने वाले को दबोचती है।

दूसरी कहानी पंखहीन पक्षियों की है। कहा जाता है कि भगवान ने पहले पक्षियों को सुन्दर दुम और कलरव युक्त बनाया, किन्तु पंख नहीं थे; फिर भगवान ने पंख दिए और उनको बोझ की भांति लाद कर उड़ने के लिए कहा। पक्षियों ने आज्ञा पालन कर पंखों को कंधे पर लाद लिया और उनकी गति तीव्र हो गई। उनका वह बोझ स्वयं उन्हीं को ढोने वाला हो गया। जो भगवान के आदेश पर कर्तव्य का बोझा अपने सिर पर लाद कर चलते हैं, उन्हें आह्लाद ही प्राप्त होता है, जिससे वे दास होने के स्थान पर मुक्त हो जाते हैं। उनका भार पंख रूप में परिवर्तित हो जाता है।

१४—उद्देश्य का नियमन

समस्त जीवन का केन्द्र इच्छा शक्ति है। विवेक-युक्त प्राणी की संबन्धित सभी बातों का मध्य बिन्दु उसी में होता है; और जीवन के कार्य-कलाप के लिए वह तत्क्षण मुख्य स्रोत और केन्द्रीय चक्र का काम करती है। डा० ग्रिफिथ थामस नाम के विद्वान का ठीक ही कथन कि "जिह्वा पर के तीन सबसे महत्व-पूर्ण शब्द ये हैं कि 'मैं हूं' जो चेतना की पुकार है; 'मैं कर सकता हूं' जो सम्भावना की पुकार है; तथा 'मैं करूंगा' जो दृढ़ संकल्प और दृढ़ निश्चय की पुकार है।"

उद्देश्य और कार्य में बड़ा गहरा सम्बन्ध है; क्योंकि जो कुछ कार्य सम्पादित किया जाता है उसकी पहले संयोजना की जाती है, इस कारण निरुद्देश्य जीवन ऐसा ही है मानो किसी बन्दूकची ने कोई निशाना लगाए बिना ही गोली दाग दी हो। लक्ष्यहीन जीवन निरर्थक है, निरर्थक से भी गया बीता है और स्वयं अपने और दूसरों के लिए भी बाधा है। ऐसा मनुष्य मानवता रूप मधुमक्खी के छत्ते का निकम्मा नर मधुमक्खी है जो कोई काम नहीं करता, मानव जाति के विशाल पल्लवित वृक्ष पर बंझा है जिसमें फल फूल कभी नहीं लगते। उद्देश्य शक्ति का संचय करता है, यह जीवन-सरिता में बाँध निर्मित करता है और पानी से पनचक्की के चक्के घुमवाता है। उद्देश्य

जीवन को एक विशद वक्तृता बनाता है जो सत्कार्य सम्पादन के लिए एक महान और उत्साह-पूर्ण उद्वेग-युक्त धारावाही होती है। प्रत्येक कार्य शक्ति का वाक्य होता है और वक्तृता दोधारी तलवार होती है। लक्ष्य-हीन मनुष्य की अपेक्षा किसी अधम लक्ष्य रखने वाले व्यक्ति से अधिक आशा की जा सकती है जिस प्रकार कि एक वन्द तालाव की अपेक्षा विध्वंसक धारा से अधिक लाभ की आशा हो सकती है, क्योंकि हम विध्वंसक धारा को तो उपयोगी नाले के रूप में बदल भी सकते हैं किन्तु तालाव का पानी तो सुखा ही देने योग्य होता है जिससे वह पानी की सड़ान से विष न फैलावे। अपने जीवन में कोई लक्ष्य न होने से कितने ही व्यक्तियों ने अपने जीवन की भूल को निष्फल जीवन विताने के वाद अनुभव किया है।

इस कारण जिन सिद्धान्तों पर जीवन की अभिरुचि निर्वा-चित की जाय और उस पर दृढ़ रहा जाय, वे अत्यधिक महत्व के हैं। जीवन को नियंत्रित करने के लिए एक उद्देश्य निर्वाचित कर लेना चाहिए; अर्थात् कोई मुख्य नियामक और संचालक उद्देश्य होना चाहिए। हमारे जीवन में छोटे वड़े उद्देश्य नित्य ही उपस्थित होते हैं, महत्तर उद्देश्य रहने से हम निम्नतर लक्ष्यों को अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अनुसरित करते हैं। किन्तु प्रत्येक वात अन्ततः एकाकी लक्ष्य पर ही निर्भर करती है, वह एकाकी लक्ष्य हमारे कार्य-कलापों को संलग्न करने योग्य होता है। यह प्रकट है कि कोई वहुत निम्न उद्देश्य सहज ही वास्तव

में प्रधान उद्देश्य बन सकता है, जैसे कि कोई मनुष्य जब लाभ की उत्कट इच्छा से प्रेरित होता है तो वह मनुष्य को उसके ग्रहण किए जाने वाले रुपयों की तरह धातु के सिक्के रूप में कठोर, निर्मम और अनुत्तरदायी बना देती है। बहुत लोगों पर भव्य वस्त्राभूषण से छैला बने रहने का भूत ही सवार रहता है जिसमें उनका असीम धन फुंक जाता है। नवाब वाजिद-अली शाह सरीखे ऐश्वर्य, भोग-विलास-लीला का अनुसरण करने वाले पुरुषों का तो आज भी अभाव नहीं हो सकता। संस्कृति के संबंध में भी मनुष्य स्वार्थी हो सकता है जो शिक्षा और विद्वत्ता को व्यक्तिगत सम्पत्ति के सूक्ष्म रूप की भांति केवल अपने तक ही रक्खे।

यदि मुख्य संचालक उद्देश्य सर्वोत्कृष्ट कोटि का रखना हो तो आदर्श से संबन्धित होना चाहिए और नितान्त रूप से ऊँचा उठाने वाला होना चाहिए। इस प्रकार के उच्च उद्देश्य के महत्व को अतिरंजित करना असंभव है। यह क्षुद्र व्यक्ति को भी महान बनाता है, यह स्वयं ही महानता का सृजनकर्त्ता और शिक्षक होता है। लच्छेदार भाषण देने वाले और ओजस्वी वक्ता में महान उद्देश्य ही विभेद करता है। एक विद्वान ने एक ओजस्वी वक्ता की इस प्रकार प्रशंसा की है कि "उसकी विशिष्ट प्रशंसा यह थी कि स्वाभाविक था, किसी भी यथार्थ ओजस्वी वक्ता की भाँति उसकी वास्तविक मोहनीशक्ति उसके उद्देश्य का एकाकीपन, अपने उद्देश्य की दृढ़ता-पूर्वक ग्रहण-शक्ति और

उसकी महान सच्चाई थी।" यथार्थ ओजस्वी वक्ता अपने श्रोताओं को ऊँचा उठाने, उच्च परिणाम प्राप्त करने के लिए वहुत ही अधिक सोचता है। प्रवीण वास्तुकलाविद की भाँति वह आभूषण का ही निर्माण नहीं करता, वल्कि आभूषण-निर्माण कला का ही निर्माण करता है। सुकरात से पूछा गया कि वह कुछ नहीं लिखता तो उसने कहा, "मैं मृत भेड़ों के चाम पर लिखने की अपेक्षा जीवित मनुष्यों के हृदय पर अंकित करूंगा।" (चाम का नाम इसलिए लिया गया है कि कागज की जगह हमारे देश में भोजपत्र तथा ताड़पत्र जिस प्रकार उपयुक्त होता था, उसी प्रकार यूनान में चाम का उपयोग लिखने के लिए होता होगा)। इसी प्रकार नीग्रो जातियों के उद्धारक बुकर टी० वाशिंगटन ने कहा था, "अन्तिम छानवीन में संसार इस वात की वहुत ही कम चिन्ता करता है कि आप या हम क्या 'जानते' हैं बल्कि यह बहुत इस बात का विचार करता है कि हम वा आप क्या 'करते' हैं" हाथ को जेब में डालकर हिलाते हुए सड़क पर चलने वाले शिक्षित व्यक्ति का उस अज्ञानी व्यक्ति से एक कौड़ी भी अधिक मोल नहीं है जो जेव में हाथ डाले रहता हो।

जीवन का नियंत्रण करने के लिए जो उद्देश्य चुना गया हो वह सम्पूर्णता के यथासम्भव अधिक से अधिक समीप तक पहुँचने वाला होना चाहिए। महान उद्देश्य रखने में यह लाभ है कि यदि वह असाध्य भी हो तो भी वह नए प्रयत्नों के लिए

उत्तेजित करता है जिससे मनुष्य अपने आत्म-लक्ष्य तक पहुँचने का कभी भी अनुभव नहीं कर पाता जिसके परे कोई प्रगति नहीं हो सकती। डा० ए० गार्डन नाम के एक विद्वान का कथन है कि "मैं अपूर्णता का लक्ष्य रख कर उसको पूरा कर लेने के स्थान पर वलिक पूर्णता का लक्ष्य रक्खूंगा और उससे वहुत पीछे रह जाऊँगा" हम लोगों में से अधिकांश अपूर्णता पर लक्ष्य रखते हैं और उसे प्राप्त करने में सफल होते हैं।

कोई भी मुख्य उद्देश्य संचालक होने योग्य नहीं है जो किसी के अपनेपन पर केन्द्रित और समाप्त होता है। यह स्वयंसिद्ध बात की तरह स्वीकार कर लेना चाहिए क्योंकि सर्वोत्कृष्ट आत्म-लाभ भी उच्चतम कार्य-कलापों और शक्तियों को आह्वान करने के लिए यथेष्ट नहीं होता। यह शोक-पूर्ण बात है कि लोग आत्म-त्याग के इतने उच्च सिद्धान्त को अपने हृदयों से विलीन कर रहे हैं। प्रेसिडेंट इलियट नामक संभ्रान्त पुरुष ने, जिसके स्फूर्तिमय वाक्यों से कितने ही युवकों के जीवन में नव-जीवन प्राप्त हुआ है, लिखा है "किसी भी ऐसे व्यक्ति का नाम इस संसार में यशस्वी नहीं रहता जिसने अपने जीवन-कार्य को किसी प्रकार के भौतिक, मानसिक वा नैतिक उत्थान से संबंधित न रक्खा हो।" वहुतों की धर्म की साधारण भावना जीवन को आचरण की परीक्षा और उसका प्रधान कार्य अपनी मुक्ति मानने से अधिक ऊँचे नहीं उठती। किन्तु यह धर्म-सम्मत नहीं है। जो अपनी जीवन-रक्षा करता है वह उसे खो

देता है। हममें मानव उत्थान और उच्च भद्रता के निश्चय के लिए उद्वेग होना चाहिए। देशभक्ति महान है, किन्तु उससे भी महान पवित्रता दूसरे के त्राण, आहुति और मानवात्मा को श्रेष्ठ पद प्रदान करने के लिए अपनी प्राणाहुति करना है। हम ऐसे व्यक्ति की धार्मिकता पर कभी कभी आलोचना कर सकते हैं जो अन्य मनुष्य को अज्ञानांधकार में डूबते हुए देख कर स्वयं अपनी साधना, आत्मज्ञान का अभिमान कर संतुष्ट बैठा रहे। सच्ची धार्मिक प्रवृत्ति दान करने के लिए स्वयं प्राप्त करने की है और व्यावसायिक वृत्ति फल पाने के लिए दान करने की है। इन दोनों में कितना गहरा अंतर है। दूसरों का जीवन अधिक क्लेश-हीन बनाने की अपेक्षा हमारा अत्यधिक श्रेष्ठ जीवन और फिर क्या हो सकता है?

निस्स्वार्थ जीवन अन्त में उच्चतम पारितोषिक ही प्रदान करता है। एक महापुरुष का कथन है कि "जब प्रेम के लिए कोई सेवा की जाती है तो जितना ही अधिक कठोर, अरुचिकर और महती सेवा वा त्याग होता है उतनो ही अधिक प्रचुर और परिपूर्ण प्रेम की अभिव्यक्ति होती है, इस कारण उनका ह अधिक संतोष होता है।" प्रेम कठोर साधना से प्रेम करता है। एक बहुत ही आततायी, दुष्ट तुर्क बादशाह की कहानी प्रचलित है कि अत्यधिक दुष्टता के लिए जब वह नरक में ढकेल दिया गया तो उसका एक पैर जिस से उसने एक मनुष्य के

जीवन की रक्षा की थी नरक की ज्वाला से अलग रहने देने की अनुमति मिली थी।

इसी कारण गीता में सात्विक कर्म का लक्षण बतलाया गया है कि:—

नियतं संगरहितमरागद्वेषत: कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥

"जो कर्म नियत, कर्त्तापन के अभिमान से रहित, फल को न चाहने वाले पुरुष द्वारा किया जाता है वह सात्विक कर्म कहा जाता है।"

उपर्युक्त सभी बातें केवल एक बात में सम्भवत: सन्निविष्ट हो सकती हैं; वह केवल एक उद्देश्य है जो मनुष्य को भगवान के साथ इस प्रकार सम्मिलित करा देता है जिसमें भगवान की इच्छा को सेवक संचालिनी शक्ति और दिव्य जीवन के रहस्य रूप में स्वीकार और अनुगमन करता है। इसकी महत्ता विचारणीय है। मनुष्य और भगवान एक केन्द्र पर परिभ्रमण करते हैं।

इस विश्वास को दृढ़ करने के लिए गीता में बहुत स्पष्ट रूप से कहा गया है:—

ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

ईश्वर सब प्राणियों के हृदय-देश में रहता है और हे अर्जुन-सब जीवों को चक्र पर चढ़ाए हुए माया द्वारा घुमाता है।"

भगवान को सब का प्रेरक मान भगवान की इच्छा को ही सब वस्तुओं में मानने के नियामक उद्देश्य के तीन लाभ हैं, पहला पूर्ण रक्षा का निश्चय रहता है। दूसरा पूर्ण सफलता प्राप्त होती है, तीसरा पूर्ण संतोष प्राप्त है।

इसी लिए गीता का उपदेश है कि—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परांशांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

"हे अर्जुन, सब प्रकार से तू उसी की शरण ले और उसी की कृपा से तू परम शान्ति और सनातन परम धाम को प्राप्त होगा।"

इस प्रकार हमें शास्त्रकारों ने यह आदेश दिया है कि हम पहले भगवान और उसकी न्यायनिष्ठा की अनुरक्ति करें, तब अन्य सब पदार्थ स्वयं ही हमारे पास आ जायँगे। इस तरह दो प्रमुख सिद्धांत हमारे सम्मुख आते हैं। पहला यह है कि जब हम प्रमुख उद्देश्य को प्रमुख पद प्रदान करते हैं तो गौण कल्याण वा हित हमारे मांगे बिना ही भगवान द्वारा प्राप्त हो जाते हैं मानो मनुष्य संसार में भगवान के महान उद्देश्य की पूर्ति सदृश महान कार्य-सम्पादन में आत्मत्व को सर्वथा विलीन कर अपने जीवन के गौण सत्कार्यों और हितों को दृष्टि डालने योग्य भी नहीं समझता। इसके विपक्ष दूसरा सिद्धान्त यह है यदि हम गौण हितों को ही प्रमुख पद प्रदान करें तो प्रमुख हित का लोप ही हो जाता है और गौण

हित की तृप्ति में भी सफलता मिलने का निश्चय नहीं होता। इस प्रकार भगवान की सृष्टि के इन महान सिद्धान्तों के अत्यधिक अनुशीलन की आवश्यकता है। ये इस बात की मुख्य परीक्षा हैं कि हम क्या हैं और क्या होंगे। इस तरह जब जीवन भगवान की इच्छा से नियमित किया जाता है तो जो बात मनुष्य की दृष्टि में असफलता जान पड़ती है वही भगवान के लिए सफलता होती है।

गीता में कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

जो मुझको सर्वत्र और सब को मुझ में देखता है मैं उसके लिये नष्ट नहीं होता और वह मेरे लिए नष्ट नहीं होता।

हम लोगों में प्रत्येक को यह विचार करना चाहिए कि जीवन निकट से कैसा दिखाई पड़ता है। ईश्वरीय विचारधारा को जीवन को तौलने और मूल्य आंकने के लिए दृष्टिकोण बनाना एक महान सफलता है। इसकी बराबरी कोई वस्तु नहीं कर सकती।

इसी महान भाव को यजुर्वेद में कहा गया है:—

यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥

"जो सब जीवों में आत्मा ही जानता है ऐसे एकत्व देखने वाले को क्या शोक और क्या मोह!"

इसलिये भगवान को ही अपना प्रदर्शक मानकर जीवन पावन करना चाहिये। पथ-विचलित न होने का वही एक मार्ग है क्योंकि अर्जुन के शब्दों में:—

पितासि लोकस्य चराचरस्य,
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो,
लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।

"तू इस चराचर जगत का पिता है, गुरु से भी बड़ा गुरु और पूजनीय है। हे अतिशय विभूति वाले, तीनों लोकों में भी तेरे समान कोई दूसरा नहीं है, फिर तुझसे बढ़कर कैसे होवे।"

और बृहत्स्तोत्र रत्नाकर के शब्दों में:—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

"तू ही माता और तू ही पिता है, तू ही बन्धु और तू ही सखा है, तू ही विद्या और तू ही द्रव्य है और हे देवों के देव, तू ही मेरा सब कुछ है।"

मुद्रक—श्री रघुनाथप्रसाद वर्मा, नागरी प्रेस, दारागंज, प्रयाग।

बालकों के लिये बिलकुल नई चीज़

सचित्र, मनोरञ्जक, शिक्षाप्रद, सरल, रोचक, जीवन को ऊँचा उठानेवाली सस्ती पुस्तकें

छात्र-हितकारी पुस्तकमाला ने नीचे लिखी पुस्तकें प्रकाशित की हैं। प्रत्येक का मूल्य ।) है।

१—श्रीकृष्ण
२—महात्मा बुद्ध
३—रानाडे
४—अकबर
५—महाराणा प्रताप
६—शिवाजी
७—स्वामी दयानन्द
८—लो० तिलक
९—जे० एन० ताता
१०—विद्यासागर
११—स्वामी विवेकानन्द
१२—गुरु गोविन्दसिंह
१३—वीर दुर्गादास
१४—स्वामी रामतीर्थ
१५—सम्राट अशोक
१६—महाराज पृथ्वीराज
१७—श्रीरामकृष्ण परमहंस
१८—महात्मा टॉल्स्टॉय
१९—रणजीतसिंह
२०—महात्मा गोखले
२१—स्वामी श्रद्धानन्द
२२—नेपोलियन
२३—बा० राजेन्द्रप्रसाद
२४—सी० आर० दास
२५—गुरु नानक
२६—महाराणा सांगा
२७—पं० मोतीलाल नेहरू
२८—पं० जवाहरलाल नेहरू
२९—श्रीमती कमला नेहरू
३०—मीराबाई
३१—इब्राहिम लिंकन
३२—अहिल्याबाई
३३—मुसोलिनी
३४—हिटलर
३५—सुभाषचन्द्र बोस
३६—राजा राममोहनराय
३७—लाला लाजपत राय
३८—महात्मा गाँधी
३९—महामना मालवीय जी
४०—जगदीशचन्द्र बोस
४१—महारानी लक्ष्मीबाई
४२—महात्मा मेजिनी
४३—महात्मा लेनिन
४४—महाराज छत्रसाल
४५—अब्दुल गफ्फार खाँ
४६—मुस्तफा कमालपाशा
४७—अबुल कलाम आज़ाद
४८—स्टालिन
४९—वीर सावरकर
५०—महात्मा ईसा
५१—सी० एफ० एन्ड्रूज़
५२—डी० वेलरा
५३—गैरी बाल्डी
५४—स्वामी शंकराचार्य
५५—वीर केशरी हमीरदेव
५६—गणेशशङ्कर विद्यार्थी

मैनेजर—छात्रहितकारी पुस्तकमाला, दारागंज, प्रयाग।

This book was taken from the library on the date last stamped. A fine of one anna will be charged for each day the book is kept overdue.

11.6.65